7

अध्याय – 6

मौर्य, शुंग, कुषाण एवं गुप्तकालीन मूर्तिशिल्प

मौर्यकाल

शैशुनाग वंश के बाद मगध में नन्द वंश का साम्राज्य था। नन्द वंश कला क्षेत्र में महत्त्वहीन रहा। चाणक्य ने चातुर्य से नन्दवंश का नाश कर मगध में चन्द्रगुप्त मौर्य (322 ई. पू. से 302 ई. पू.) को राजा बनाकर मौर्य वंश की (325 ई. पू. में) स्थापना की, जो कला और शिल्प के लिए बड़ा उदार राजवंश रहा। पाटलिपुत्र मगध की राजधानी थी। सिकन्दर के सेनापति सेल्यूकर निकेटर को पराजित कर सन्धि स्वरूप चन्द्रगुप्त मौर्य को बलूचिस्तान और अफगानिस्तान तक अपना राज्य बढ़ाने का अवसर मिला और इसी समय सांस्कृतिक उन्नति अपने चरम पर पहुँची।

चाणक्य के अनुपम ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' से पता चलता है कि उस समय शिल्पियों की श्रेणियाँ और समूह पंचायतें होती थीं। आधुनिक कम्पनियों की तरह ये साझे में काम करते थे, जिनमें बढ़ई, चित्रकारी, मूर्तिकारी, चर्मकारी आदि अठारह श्रेणियाँ थीं। श्रेणियों के अलग–अलग मौहल्ले हुआ करते थे। शिल्पियों को अच्छा राज्याश्रय प्राप्त था। चन्द्रगुप्त ने पूर्व राजवंशों द्वारा स्थापित कठोर शारीरिक और अंग–भंग जैसे दण्ड शिल्पियों के लिए खत्म कर दिये थे।

चन्द्रगुप्तकालीन ग्रीक राजदूत मेगस्थनीज की ''इण्डिका'' के वर्णनानुसार चन्द्रगुप्त का विशाल प्रासाद एशिया के सूसा और एकबताना आदि के प्रसिद्धतम प्रासादों को भी मात करता था। यह प्रासाद असंख्य मूर्तियों से अलंकृत था। प्रासाद का अधिकांश भाग नष्ट होने से कला विशेषज्ञों का कहना है कि ये मूर्तियाँ भी फलतः शीघ्र ही काल कलवित हो गई।

सिन्धु सभ्यता के बाद, भारतीय मूर्तिशिल्प के ऐतिहासिक वर्णन में ईसा से कुछ समय पूर्व से यह सिलसिला पुनः प्रारंभ होता है। किन्तु किसी भी देश–काल ने (देश के किसी भी काल ने) शिल्प–वैभव को अकस्मात ऐसा सौष्ठव नहीं दिया। निश्चय ही इससे कई सौ वर्षों पूर्व ही भारतीय मूर्तिशिल्प विधागत विशिष्ट गुण पा चुका था और यह अच्छे रूप में प्रचलित था। कई लेखकों की मान्यतानुसार यह काल काष्ठ शिल्प और मृण मूर्तिशिल्प का रहा है, फलतः तत्सम्बन्धी उदाहरण सहज ही काल कलवित हो गये। महाभारत काल से प्रचलित 'देवकुल' प्रथा (मृत राजाओं की स्मरणीय पात्रों की मूर्ति बनाकर रखना और पूजा करना) अब तक प्रचलित थी। यह भी मान्यता रही होगी कि तत्कालीन मूर्तियों का उद्‌देश्य बहुत हद तक मिश्र के पिरामिडों जैसा व अविस्मरणीय की स्मरणीय प्रस्तुति रही है। शिल्प विधा शिखर को छू चुकी थी। राज्याश्रय में कला शासकीय घोषणा, धारणा व सद्‌विचारों के लिए माध्यम बनी परन्तु साथ ही जनसाधारण ने मूर्तिकला से लोकजीवन की मांग की, फलतः देवता, उपदेवता, यक्ष आदि आकारों में सृजित हुए।

अशोक (277 से 236 ई. पू.)

अशोक को पड़ौसी राज्य कलिंग की विजय के बाद असंख्य नर–संहार के परिणाम स्वरूप भारी पश्चाताप हुआ व आत्मक्षोभ वश उसने बौद्ध धर्मावलम्बी बनकर बौद्ध धर्म को राज्याश्रय दिया। साथ ही

अन्य धर्म, पंथ को वह समदृष्टि से देखता था। अब उसने लोक धर्म को अपने जीवन का ध्येय बना लिया। धर्म प्रचार हेतु अशोक ने पर्वतों, शिलाफलकों, स्तूपों, विहारों, पवित्र स्थलों और बड़ी–बड़ी लाटों पर अपनी परिवर्तित मनोवृत्ति के ज्ञापन खुदवाए, जिन्हें धर्मलिपि कहा जाता था। यही लाट व मूर्तियाँ अशोककालीन शिल्प कहलाए। उन्होंने सिंहल से लेकर हिमालय तक तथा पश्चिम एशिया, मिश्र, उत्तरी अफ्रीका एवं यूनान तक प्रचारक भेजे। ये प्रचारक सम्प्रदाय विशेष के न होकर शुद्ध और उच्च आचरण का संदेश देते थे, यही विश्वधर्म था।

ऐसे लोकोत्तर शासक का शिल्प भी अद्वितीय था। अशोक के सन्देश पत्थरों पर उत्कीर्ण हैं जिनमें शिलाथम्भों (स्तम्भों) की कला का उतना ही महत्त्व है जितना उन पर खुदे लेख का। संसार भर की उत्कृष्टतम् मूर्तियों में उनका स्थान है। अशोक के वैभव सम्पन्न शासन में भारतीय शिल्पकारों ने पत्थरों की प्रतिमाएँ तराशना शुरू किया। यह कला अशोक को इतनी पसन्द आई कि जल्द ही यह चलन बन गई। सम्राट ने स्वयं आदेश दिया कि जिन स्थानों पर अधिक लोग इकठ्ठे होते हैं, वहाँ विशाल 'पाषाण स्तंभों' की स्थापना की जाए। उसने यह भी कहा कि इन स्तंभों पर सम्राट के उन राजकीय आदेशों को, जिनमें कहा गया था कि अधिकारी प्रजा के साथ न्याय और दया का व्यवहार करें, बुद्ध की शिक्षाओं पर चलें, निर्धनों, वृद्धों और रोगियों की सहायता करें और अच्छी सड़कें बनवाएं तथा और भी कितने ही लाभदायक आदेशों को उस पर उत्कीर्ण कर दें।

सम्राट अशोक ने अपने शिल्पियों की सहायता के लिए ईरान से कुछ अनुभवी मूर्तिकार बुलाये। ये अपने साथ निजी विचार–धारणाएँ भी लाए, जिसका परिणाम इन स्तम्भों पर पारसी प्रभाव के रूप में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। शिल्प फलक उड़ीसा में भुवनेश्वर से सात मील दक्षिण में धौली नामक गाँव की अश्वत्थामा पहाड़ी की चट्टान पर अशोक की जो धर्मलिपि खुदी है, उसके ऊपर हाथी के सामने की ओर मूर्ति कोरकर बनाई गई उत्कृष्ट कृति है।

एकाश्मक स्तंभ

बौद्ध धर्म के विस्तृत प्रचार–प्रसार को स्थायित्व देने के सन्दर्भ में सम्राट अशोक को शिलालेख को उत्कीर्ण कराने की प्रेरणा मिली। इसी शृंखला में उसने हजारों स्तूप भी निर्मित करवाये, बाद में, जिनमें से कुछ प्रसिद्ध रहे। स्तूप–संरचना की कमजोर प्रकृति ने उसे एकाश्मक स्तभों के रूप में स्थाईत्व की प्रेरणा दी। अशोक द्वारा निर्मित एकल या बहुपशु शीर्ष युक्त एकाश्मक स्तंभों को मौर्य शिल्प के विकास की पराकाष्ठा के प्रतिनिधि स्मारक माना जा सकता है। चुनार (नगर) के बलुआ पत्थरों से बने ये स्तंभ 30′ से 50′ तक ऊँचे हैं। प्रत्येक अशोकीय स्तंभ दो भागों में विभक्त हैं, प्रथम लाट और द्वितीय परगहा है। इन लाटों पर धर्मलिपि खुदी हुई है, जिसमें खरोष्ठ लिपि में बौद्ध धर्मादेश व जनहिताय सन्देश खुदे हैं। इन्हें सार्वजनिक स्थानों पर खड़े कर दिये जाते थे और सभी लोग उस सन्देश को पढ़ते थे। प्रत्येक परगहा अपने सभी अंगों सहित लगभग 7 फुट ऊँचा और एक एकाश्मक है। दोनों (लाट और परगहा) एकाश्मक खण्डों को 2 फुट लम्बी ताम्बे की कील द्वारा बिना वजालेप के जोड़ा गया है। रामपुरवा के स्तंभ से ऐसी ही ताम्बे की कील मिली है। पर्सी ब्राउन का विचार है कि ये लाट वृक्ष पूजा का प्रतीक हैं और विशेषतः बौद्धिवृक्ष का। इन लाटों पर ऐसा चमकदार ओप (पॉलिश) चढ़ा हुआ है कि आँख भी फिसलती है। मानों कारीगर अभी–अभी ओप करके हटा हो। मौर्यकाल के बाद यह ओप पद्धति भारतीय इतिहास से सदा के लिए लुप्त हो गई। सभी स्तंभों (लाटों) के दण्ड गोलाकार हैं व नीचे से ऊपर चढ़ाव–उतारदार हैं, ताड़ वृक्ष की तरह। वजन हजार हजार, बारह बारह सौ मन बैठता है। कैसे इन्हें खानों

से ठिकानों तक पहुँचाया होगा, कैसे ओप कर इन्हें खड़े किये होंगे और उन पर परगहे ठीक ठीक जुड़ाए होंगे, यह सभी दर्शकों को आश्चर्य में डालते हैं। लौरिया नन्दगढ़ के लाट का उतार–चढ़ाव सबसे सुन्दर है, नीचे उसका व्यास साढ़े पैंतीस इंच है और ऊपर साढ़े बाइस इंच है।

चीनी यात्री फाहियान ने छह देखे हुए स्तम्भों का वर्णन किया और सातवीं सदी में आए ह्यान चांग. ने अपनी भारत यात्रा में 15 स्तंभों का वर्णन किया। अशोक ने ऐसे कई स्तंभों को वहाँ वहाँ लगाया जहाँ जहाँ बुद्ध ठहरे थे या उन्होंने उपदेश दिये थे। अशोक ने तथागत के जन्म स्थान लुम्बिनी की यात्रा की थी। पाटलीपुत्र, लौरिया नन्दगढ़, लौरिया अरराज, बाखिरा (वैशाली के निकट), बौद्धगया, सारनाथ, वाराणसी, श्रावस्ती, कौशाम्बी, साँची, रोपड़, मेरठ, संकाश्या (विभिन्न जनपदों की मौर्यकाल में राजधानी थी) आदि पर भी स्तंभ प्रतिस्थापित किये।

उपलब्ध स्तंभ

भारत के विभिन्न भागों में अब तक 14 स्तंभ प्राप्त हो चुके हैं, जिनमें से चार स्तंभों पर लेख नहीं खुदे हैं।

1. 49.6 फुट लम्बा चार सिंह शीर्ष युक्त सारनाथ स्तंभ। इन्हीं चार सिंहों को राष्ट्रीय चिह्न का गौरव प्राप्त हुआ है। अधिकांश विद्वानों ने इसे अशोक के अन्तिम वर्षों में उत्कीर्ण माना है।
2. सिंह शीर्षस्थ साँची का स्तंभ जो 42 फुट ऊँचा है।
3. 45 फुट ऊँचा रामपुरुवा का स्तंभ।
4. रामपुरुवा का लेखरहित वृष शीर्ष स्तंभ।
5. 39.9 फुट लम्बा सिंह शीर्षस्थ लौरिया नन्दगढ़ का स्तंभ।
6. शीर्षरहित 36.6 फुट लम्बा रामपुरुवा अरराज का स्तंभ। स्मिथ एवं चन्दा के विचार से इस पर गरुड़ स्थित था।
7. इलाहाबाद से प्राप्त कौशाम्बी का स्तंभ, जिसके शीर्ष पर कभी सिंह था। यह शिलालेख की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।
8. अति ओपयुक्त बिना लेख के कौशाम्बी का स्तंभ।
9. अश्व शीर्षयुक्त लुम्बनी स्तंभ (आधुनिक नेपाल के रूम्मिन देई से डॉ. फुहहर को 1896 में प्राप्त हुआ)।
10. निगलीवा स्तंभ (नेपाल की तराई में निगाली सागर के किनारे पर)।
11. सिंह शीर्ष बाखिरा या कोल्हुआ का स्तंभ, चीनी यात्री फाहियान ने जिस के 50 फुट होने का वर्णन किया है।
12. सांकाश्य (संकीसा), वर्तमान फर्रुखाबाद जिले के संकिसा ग्राम से, बिना सूंड व पूंछ वाले हाथी शीर्षस्थ व बिना लेख का स्तंभ।
13. दिल्ली का स्तंभ – दिल्ली दरवाजे के बाहर फिरोजशाह कोटले पर स्थित, फिरोजशाह जिसे टोपरा गाँव से उठा लाया था। यह 42.7 फुट ऊँचा है। अशोक के 26 वें वर्ष का है। यह काफी चमकदार है जो मूलतः सलौरा व खिज्राबाद जिले के टोब्रा गाँव में स्थित था।
14. दिल्ली–मेरठ स्तंभ जो दिल्ली में रिज पर स्थित है, 32.9 फुट का है। अशोकीय अभिलेख युक्त लाट कलकत्ता में एशियाटिक सोसायटी संग्रहालय में है। इसके अतिरिक्त कई स्थानों पर स्तंभों के विच्छिन्न खण्ड भी मिले हैं।

मौर्यकालीन स्तम्भ

वैसे तो लाट भी प्रशंसनीय महत्त्व रखती हैं, किन्तु कला की दृष्टि से इनका सर्वाधिक वर्णनीय पक्ष लाटों के शीर्ष पर स्थित पशु आकृतियुक्त परगहे हैं। अध्ययन और वर्णन की दृष्टि से श्री रायकृष्णदास ने अशोक कालीन परगहों को पाँच भागों में विभक्त किया है –

1. एकहरी या दोहरी पतली मेखला जो लाट के ठीक ऊपर होती है,
2. उसके ऊपर उलटी कमल पंखुड़ियों की आलंकृतिक बैठकी, जिसे विद्वान घंटाकृति मानते हैं,
3. उस पर काष्ठ व पहले वाली पतली मेखला की बड़ी पुनरावृत्ति,
4. उसके ऊपर गोल या चौकोर चौकी और,
5. उसके भी सिरे पर एक या एकाधिक पशु आसीन होते हैं।

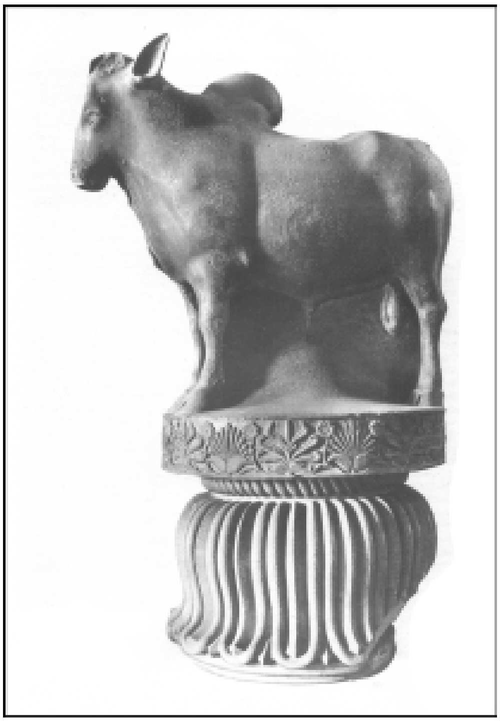

वृषभ शीर्षस्थ परगहा रामपुरवा

मेखला पर प्रायः डोरी का उभरा हुआ अलंकरण या दोहरी डोरी होती है। इसी के तीसरे भाग कण्ठे पर भी सादी मोटी डोरी या रामपुरुवा के वृषभ में मोटी डोरी या मनकों का प्रभाव, किन्तु कारीगरी की असली छटा तो चौकी और उसके सिरे पर बने जानवरों में होती है। लौरिया नन्दगढ़ के सिंह पर थोड़े उभारदार उड़ते हंस बने हैं। इलाहाबाद के सिंहस्थ, सांकाश्य हाथी शीर्षस्थ व रामपुरुवा के वृषभ शीर्षस्थ की चौकी पर पंकज, कमल, मुकुन्द आदि बने हैं। जो भी अलंकरण चुने हैं बड़े ही नाप, तौल व प्रमाणयुक्त सजीवता से बने हैं, परगहे पर शीर्षस्थ वाली पशु आकृतियाँ भी, जिनमें सिंह, हाथी, वृषभ या अश्व में से एक या एकाधिक होते हैं।

सारनाथ का सिंह शीर्षस्थ परगहा

अब तक प्राप्त विभिन्न स्तंभों में रामपुरुवा का वृषभ परगहा भी शिल्प का अनूठा नमूना है। (मूलतः परगहे) वाराणसी जनपद के सारनाथ का स्तंभ चार सिंह शीर्षस्थ परगहा निःसंदेह मौर्य कला का बेजोड़ नमूना है और संभवतः सबसे प्रसिद्ध भी है। इसे देखने पर पहली बात यह है कि ईरानी अथवा भारतीय किसी भी शिल्पी ने अब तक ऐसी किसी कृति का निर्माण नहीं किया था। यह अधिकांश भारतीय शिल्प की तरह एकदम मौलिक है। इस परगहे पर पतली सी मेखला है जिस पर उलटे कमल की पंखुड़ियाँ हैं और हर पत्ती व पंखुड़ी को ठीक प्रकार के आकार व रूप में तराशा गया। इन्हें सीधी खड़ी न बनाकर उल्टी हुई बनाई है। इसके ऊपर पुनः दोहरी मेखला है, पहली अन्दर धँसी हुई और दूसरी चौकी को सहारा देती पहली से कुछ बाहर निकली हुई। इस पर चौकी है जो मुख्य शिल्प चारों सिंहों की भूमि है। इस चौकी पर चौबीस आरों वाले चार अशोक के बौद्ध धर्मचक्र हैं और चार पशु आकृतियां है : वृषभ, अश्व, सिंह और हस्ति जो

अच्छा उभार लिए हुए हैं। ये पशु ऊपर के चारों सिंह से भिन्न शैली में गढ़े गए हैं। जो बहुत सूक्ष्म निरीक्षण के बाद बने हैं और बहुत उत्तम, प्रकृत एवं सजीव रूप में प्रस्तुत है। ईरान में ऐसा कुछ भी कभी नहीं बनाया गया। सरपट दौड़ते घोड़े की पीठ कमान की तरह तनी है, पूंछ स्वाभाविक, ऊपर उठे आगे के पैर व पीछे के पैर अत्यन्त गतिमान होकर मुड़े हुए हैं। दूसरा बैल मांसल, सुगठित, पुष्ट व चैतन्य है। सभी अंगों की स्थिति से बैल गतिमान लगता है। दोनों ही विशेष रूप से निरीक्षण एवं मूर्तिशिल्प इन दोनों की एक छोटी कृति है। अन्य दो पशु सिंह और हाथी हैं। हाथी मस्तगत भारी शरीर, तनी सूंड, बड़ी व खुली आँखों से अपनी स्वाभाविक चाल से आगे बढ़ रहा है। चौथा सिंह जिसकी गर्दन उठी व मुड़ी पूँछ, पैरों की बनावट बड़ी, खुली आँखें गतिमान स्थिति का द्योतक है। दोनों ही उत्तम रूप में उत्कीर्ण हैं। इस प्रकार चारों ही पशु अपनी सहज स्वाभाविक मुद्रा में हैं और ये चारों ही आकृतियाँ अन्य परगहों की मुख्य आकृतियाँ हैं और भारतीय कलाकार के पशु प्रेम (बौद्ध धर्म का आदेश था कि सभी प्राणियों से प्रेम करना चाहिए) तथा सहज दृष्टि से देखने की उसकी योग्यता के प्रमाण हैं। निश्चय ही यह उसने (कलाकार ने) ईरान वालों से नहीं सीखा था।

चौकी पर बैठे चारों सजीव केसरी पीठ से पीठ मिलाए चारों दिशाओं में मुँह किए उकडूँ बैठे हैं। उनकी आकृति भव्य, दर्शनीय एवं गौरवपूर्ण है। सिंहत्व लिए तनी मूंछें, खुले मुँह, बड़ी–बड़ी पूरी खुली भयावह आँखें, खड़े कान, पैरों में नसों और मांसपेशियों का उभार, पंजों का उतार–चढ़ाव व पूरे शरीर में फैले अयाल आकृति के मृगेन्द्रत्व को दर्शाती है। यह स्तंभ अशोक साम्राज्य की विविध प्रजा और उसकी एकता का द्योतक है। विंसेंट स्मिथ इसे प्राचीन कला की अद्वितीय व अतुल्य कृति मानते हैं। यह अधिकांश भारतीय कला की तरह मौलिक है। चारों सिंह आकारनिष्ठ हैं। वस्तुतः ये पश्चिमी एशिया से प्राप्त कुछ प्राचीन नमूनों से प्रेरित हैं। बार–बार वैसा ही करने के कारण शिल्पियों का यह स्वभाव बन चुका था कि सिंह के अयालों को छोटी–छोटी लपटों के आकार वाले केश गुच्छों के रूप में तराशा जाए। इसी प्रकार यह भी प्राचीन परम्परा रही है, और ईरानियों ने भी इसका अनुसरण किया कि सिंह के ऊपरी ओठ को तीन गहरी खोदी हुई रेखाओं के द्वारा प्रस्तुत किया जाए। ये कला के आकारद लक्षण हैं। ओप के कारण सिंहों पर अद्भुत तेज है। पहले इन सिंहों की आँखों में मणियाँ बिठाई थीं फलतः इनका तेज और भी बढ़ा हुआ था। इन चारों सिंहों पर भी एक खड़ा धर्मचक्र था, जो अब नहीं है व उसके टुकड़े मिले हैं। यह शिल्प भारत का राष्ट्रीय प्रतीक है और वर्तमान में सारनाथ के राजकीय संग्रहालय में संगृहीत है।

सिंह शीर्षस्थ परगहा सारनाथ

चामरग्राहिणी (दीदारगंज की यक्षिणी)

मौर्यकालीन प्रासाद शिल्प के अद्वितीय उदाहरण थे। अतः मूर्तियों से प्रासाद का अलंकरण यहाँ स्वाभाविक था। स्तंभों के अतिरिक्त यहाँ अशोककालीन 15–17 अन्य मूर्तियाँ भी मिली हैं, जिन्हें सभी कला समीक्षकों ने यक्ष–यक्षी की प्रतिमाओं से सम्बोधित किया। इनमें एक प्रमुख शिल्प पटना के दीदारगंज से प्राप्त चामरग्राहिणी यक्षी का है। सारनाथ के परगहे की चौकी पर बनी चारों पशु आकृतियों से इस शैली का बहुत साम्य है, मगर शीर्षस्थ चारों सिंहों जैसा आकारद रूप इसमें नहीं है। यह यथार्थ के निरीक्षण का परिणाम है। यह प्रतिमा भी ओपयुक्त है।

स्पष्ट रूप से चामरग्राहिणी का शिल्प शोभा के उद्‌देश्य से निर्मित है।

यक्षिणी, दीदारगंज

सम्मुख मुद्रा में चौकी पर स्थित एक ही पत्थर की बनी यक्षी का गोल स्मित मुख मण्डल, भरा पूरा माँसल शरीर स्त्रियोचित क्षीण कटि, व अनुपातिक नितम्बयुक्त शरीर, तिरछी आँखें, स्तन गोल व भरे हुए हैं। पुष्ट स्कन्ध, सम्मुख मुद्रा में किन्तु सजग है। गुंथे हुए बालों पर सम्यक अलंकरण, स्तनों के बीच लहराता मुक्ताहार और दाहिने हाथ की कलाई पर कोहनी तक पहुँचती कंगनयुक्त चूड़ियाँ यक्षिणी के नारी सौन्दर्य को द्विगुणित कर देती हैं। ऐसा प्रतीत होता हैं कि चँवर को अभी अभी डोला कर कन्धे पर विश्राम दिया ही है। चंवर में बालों के रेशे इसे आकारद न बनाकर यथार्थवादी बना रहे हैं। ललाट पर लगा टैरा और सिर में बालों का जूड़ा शिल्प में मोहकता ला देते हैं । कटि पर पड़ी तीन माँसल रेखाएं और भावाभिव्यक्ति नारी में प्रौढ़ता ला देती है। पाँच लड़ियों की करधनी और कटि वस्त्र यथार्थ व आकारनिष्ठ का सम्मिश्रित रूप है। इसका झीना वस्त्र शरीर के ऊपरी भाग को ढकता हुआ बायें कन्ध ो के ऊपर और दायें हाथ के नीचे पैर तक लटका हुआ है। वस्त्राभूषणों से युक्त चामरग्राहिणी अशोककालीन एक गरिमामय शिल्प का उदाहरण है। नारी का आदर्श गुणों से युक्त इतना सुन्दर शिल्प इससे पहले नहीं मिलता है। साँची और भरहूत के नारी शिल्प हेतु यह आदर्श शिल्प रहा। अधिकांश भारतीय शिल्प की तरह यह मूर्ति भी पृष्ठ भाग से चपटी है। भारतीय कलाकार सम्मुख दृष्टि से ही देखने का अभ्यस्त रहा है। डॉ. बनर्जी ने इसे मौर्यकाल की सर्वोत्तम स्त्री कृति कहा है। जो सम्भवतः देवग्रह या प्रासाद शोभा का एक अंग रही। यह सेविका की प्रतिमा है। यह मूर्ति पटना संग्रहालय में संगृहित है।

अभ्यास प्रश्न

लघुउत्तरात्मक प्रश्न

1. मौर्यकालीन मूर्तिशिल्प की विषयवस्तु क्या थी ?
2. धर्मलिपि क्या है ? बताइये।
3. मौर्यकालीन प्रमुख स्तंभ कौन–कौन से हैं ?
4. सारनाथ के 'सिंहशीर्षस्थ परगहा' की प्रमुख विशेषताएं लिखिये।

वर्णनात्मक प्रश्न

1. मौर्यकालीन मूर्तिकला के उद्‌भव व विकास पर निबन्ध लिखिये।
2. मौर्यकालीन किन्हीं दो मूर्तियों की कलात्मक व्याख्या कीजिए।

शुंगकालीन मूर्तिकला

शुंगकालीन कला का समय 188 ई. पू. से 30 ई. पू. तक का माना गया है। मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् भारतवर्ष में अन्तःकलह एवं विदेशी आक्रमणों के फलस्वरूप चार शक्तियों ने अपना आधिपत्य जमा लिया। पूर्व में क्रेट तथा पश्चिम और पश्चिमोत्तर में ग्रीक एवं ब्राह्मण, मध्य भाग में शुंग और कण्व तथा दक्षिण में शालवाहन ने अपना आधिपत्य जमाया। मौर्यकाल में पुष्यमित्र शुंग नामक सेनापति ने मौर्यवंश के अंतिम शासक वृहद्रथ को मारकर अपना आधिपत्य कायम कर लिया, वह वृहद्रथ का सेनापति था। उसी के उत्तराधिकारी शुंगवंशी कहलाये। इसी शुंगकाल में स्तूपों का निर्माण करवाया गया। उसने सम्पूर्ण मध्यप्रदेश पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। अपने आधिपत्य के प्रदर्शन हेतु उसने दो बार अश्वमेघ यज्ञ किया जो हजारों वर्षों के बाद हुआ था। उसके राज्य की सीमाएँ अफगानिस्तान, पंजाब व सियालकोट तक फैली हुई थीं।

पुष्यमित्र के शासनकाल का समय धार्मिक आन्दोलन का समय था जब रामायण, महाभारत व पुराणों की रचना तथा पुनर्कथन होना प्रारंभ हुआ था। कला के क्षेत्र में अनेक केन्द्रों पर पाषाण शिल्प तथा स्थापत्य कला का व्यापक विस्तार हुआ। स्तूप, तोरण द्वार, वैदिक स्तंभ तथा मूर्तियों के निर्माण में पत्थरों का प्रयोग सामान्य बात हो गई थी। पत्थरों पर विविध तरह के आलेखन उकेरे गए। जो शुंग शिल्पियों की भारतीय कला को अमूल्य देन है, क्योंकि इन्हीं शिल्पियों ने अपनी कला से भारतीय आदर्शों व सिद्धान्तों से अवगत करवाया था। उन्हीं के समय तत्कालीन देवी–देवताओं की मूर्तियों को भी स्थान मिला जिनमें यक्ष, नाग आदि प्रमुख हैं। फलस्वरूप धर्म की आस्था और विश्वास पत्थरों पर सौन्दर्यपूर्ण स्वरूपों में प्रस्फुटित हुआ। कलात्मक सौन्दर्य की नई शोभा की सृष्टि की गई। शुंगकालीन मूर्तियाँ आकार में अति विशाल निर्मित की गईं साथ ही इसी काल में बने तोरणद्वारों, वेदिका–स्तंभों पर भी उत्कृष्ट कलाकृतियों व अलंकरणों का निर्माण किया गया था। इस काल में वास्तुकला व मूर्तिकला का संयुक्त विकास बहुत तेजी से हुआ। आवश्यक व अलंकारपूर्ण मूर्ति शिल्प में चन्द्र, यक्षी, चुलकोका, महाकोका, सुदर्शना यक्षी जैसी कई सुन्दर स्त्री आकृतियों की रचना की गईं, जिनमें केश विन्यास के विविध रूप, विविध अलंकरणों के प्रयोग के साथ सौन्दर्य विधान का विकास हुआ है। पुरुषाकृतियों को दमखम व चपटे डील डौल युक्त बनाई गई है, जिनमें मृदुकला व प्रभाविता का भान होता है। इस काल में अन्य मूर्तिशिल्प में गजलक्ष्मी, लक्ष्मी, अप्सराओं, मिथुनरत युगल आकृतियाँ, पूर्ण घट, धर्मचक्र, त्रिरत्न, कल्पवृक्ष, पशु–पक्षी, नाग–नागिन, मकर, कश्यप, वृषभ, सिंह, अश्व, गज आदि विविध प्रकार के वृक्षों का अंकन भी किया गया है। वास्तुशिल्प में राज–प्रासाद, देव–प्रासाद, गुफाएं, सभी इस काल की विशिष्ट देन हैं। बौद्ध धर्म की अनेक जातक कथाओं एवं ऐतिहासिक विषयों को सूक्ष्मतम व विस्तार के साथ कथापटल पर रखा गया है।

इस काल के सौन्दर्य में धार्मिक मान्यता के साथ आध्यात्मिक व कलात्मक सौन्दर्य का सुन्दर निरूपण देखा जा सकता है। शुंगकाल में बनी मूर्तियों में स्वतन्त्र मूर्तियों के अलावा तोरणद्वारों व स्तूपों

पर मूर्ति शिल्पांकन देखने को मिलता है। स्तूप का सम्बन्ध बौद्ध धर्म से सम्बन्धित माना जाता है। ऐसी मान्यता है कि बुद्ध के अवशेषों को आठ भागों में बांट कर आठ स्तूपों का निर्माण किया गया था, जिनमें एक स्तूप ब्राह्मणों द्वारा बनाया गया था। बुद्ध एक क्षत्रिय सम्राट होने का सूचक है वहीं ब्राह्मण इनके परमयोगी होने का सूचक है। ये सभी घटनाएँ स्तूप पर शिल्प कला द्वारा बनाई गई हैं।

यद्यपि बौद्ध स्तूपों का निर्माण मौर्य काल से प्रारंभ हो गया था, लेकिन उनके अलंकरण तथा बाकी सज्जा का कार्य शुंग शासकों द्वारा करवाया गया। स्तूपों का रखरखाव व उनका कलात्मक विकास शुंगकाल की देन है। स्तूपों के चारों ओर बनी वेदिका व तोरणद्वारों का निर्माण भी शुंगकाल में हुआ। एक लोक मान्यता के अनुसार स्तूप के चारों तोरणद्वारों के चार अधिपति हैं, जो विभिन्न व्याधियों से रक्षा करते हैं। उत्तर दिशा के तोरण द्वार के यक्ष अधिपति हैं राजकुबेर । पूर्व का तोरणद्वार गंधर्व राज घृतराष्ट्र का है। दक्षिण का तोरणद्वार नागराज विरुद्ध का। पश्चिम का तोरणद्वार कुशमाण्डो राज विरुपाक्ष का है।

शुंगकाल की असंख्य मृणमूर्ति शिल्प के पात्र भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक पाये जाते हैं, जो अपने चपटे डील डौल के कारण सहज ही पहचान लिए जाते हैं। इस काल के मूर्ति शिल्प के पात्रों की अपनी निजी शैली है। शुंगकाल के मिले एक पात्र पर चित्रण कार्य भी किया गया है, जिसमें एक हथिनी बनी है, जिसे एक महिला चला रही है। पीछे से एक युवक चल रहा है जो सुरमण्डल वाद्य यंत्र बजा रहा है। उसके पीछे एक व्यक्ति सिक्के बिखेरता हुआ चल रहा है, जिसे दो आदमी बटोर रहे हैं।

सांची

यह स्थान बौद्ध गया में भोपाल के पास स्थित है, जो रेलवे स्टेशन से आधे मील की दूरी पर है। सांची में एक विशाल स्तूप का निर्माण हुआ है जिसमें पत्थर का काम किया गया है। सम्राट अशोक के समय में केवल समाधि वाला भाग बना था। स्तूप वास्तव में समाधि की प्रतिलिपि है, प्रारंभ में स्तूपों का आकार समाधि के आकार जैसा ही मिलता–जुलता बनाया जाता था। धीरे–धीरे इसकी बनावट में उन्नति हुई और इसकी परिक्रमा एवं द्वारों में कला का समावेश होने लगा।

साँची स्तूप

सांची के स्तूप के तल का व्यास 120 फीट तथा ऊँचाई 24 फीट है। तोरणद्वार के चौपहले खम्भे 14 फीट ऊँचे हैं तथा सम्पूर्ण तोरण 34 फीट ऊँचा है। सम्राट अशोक के शासनकाल में केवल समाधि वाला भाग ही बना था, किन्तु शुंग शासनकाल में समाधि के बाहर का भाग परिक्रमा एवं दोहरी वेदिका का निर्माण हुआ तथा तोरणद्वारों का निर्माण भी शुंगकाल की देन है, जो शुंगकालीन मूर्तिकला का अनुपम उदाहरण है। इन तोरणद्वारों पर भगवान बुद्ध के जीवन की प्रमुख घटनाओं तथा बुद्ध के जन्म जन्मातर की जातक कथाओं, राजाओं की जीवन शैली, ग्राम्य जीवन का मूर्तांकन, यक्ष, यक्षिणियाँ, बौद्ध भिक्षु, वृक्षिकाएँ, द्वारपाल, बौनों, जंगली जानवरों–शेर, हरिण, पक्षी तथा हाथी, अश्व आदि

का अत्यन्त सुन्दर शिल्पांकन किया गया है। तोरणद्वार के खम्भों पर तिहरी बड़ेरियाँ बनी हुई हैं, जो बीच में से कमानीदार हैं। इन बड़ेरियों के ऊपर शेर, हाथी, धर्मचक्र, यक्ष व त्रिरत्न आदि का निर्माण करवाया गया है। इसी से कलात्मक भव्यता का आंकलन किया जा सकता है। तोरणों के चारों तरफ बुद्ध के जीवन चरित्र और उनके पूर्व जन्मों की घटनाओं को बहुत सुघड़ता से उत्कीर्ण किया गया है। बड़ेरियों पर इधर–उधर हाथी, मोर पंखों वाले सिंह, ऊँट, बैल तथा हिरणों के जोड़े बनाए हुए हैं, इन्हें विपरीत दिशाओं में भी बड़े सुन्दर एवं वास्तविकता प्रदर्शित करते बनाया गया हैं। खम्भ सम्पूर्ण होने वाले भाग पर ऊपर वाली बड़ेरियों का वजन झेलने के लिए चार मुँह वाले हाथी या बौने बनाये गए हैं, जिनसे बड़ेरियों के बोझ को सहन किया जा सके और संतुलन बना रहे। इसके बाहरी भाग पर संतुलन बनाने तथा अतिरिक्त सहारा देने के लिए यक्षिणियाँ उकेरी गई हैं। इनकी भाव–भंगिमाएं और मुद्राएँ बहुत ही सुन्दर तथा मनोहारी हैं। यह तोरण शुंगकाल की संस्कृति और जीवनशैली के विवरण का विश्वकोष प्रतीत होता है। इनकी खुदाई का आदर्श लकड़ी या विशेषतया हाथीदाँत की शिल्पकारी महसूस होती है। इसमें दक्षिणी भाग वाले तोरण पर लेख भी अंकित है कि वह विदिशा नगरी के हाथीदाँत के कारीगरों द्वारा खोदा गया है और उत्कीर्ण किया गया है। लम्बे तथा श्रमसाध्य कार्य को विदिशा के लकड़ी के हाथीदाँत के शिल्पकारों ने बहुत ही सुन्दर रूप से सृजित किया है।

दक्षिण भारत में वर्तमान में चंदन और हाथीदाँत पर जो नक्काशी का कार्य किया जाता है वह सामान्यतया इसी शैली का प्रतीत होता है। प्राचीन मूर्तिशिल्प का आदर्श कुछ अंशों में हाथीदाँत की शिल्पकारी पर ही आधारित है। हाथीदाँत पर उभरा हुआ शिल्पकार्य मोहनजोदड़ो काल में भी होता था। वर्तमान समय में अफगानिस्तान में खुदाई के समय हाथीदाँत के शिल्पकारी के कुछ बहुत ही सुन्दर फलक प्राप्त हुए हैं। ये फलक इसी शुंगकालीन शिल्प कला के हैं तथा सांची, भरहुत और मथुरा प्रस्तर शिल्पकला से बिल्कुल मिलते–जुलते प्रतीत होते हैं। शायद गांधार शैली की मूर्ति शिल्पकला का विकास संभवतया इन्हीं नमूनों के आधार पर हुआ होगा।

सांची के तोरणद्वारों पर कहीं बोधिवृक्ष का अभिनन्दन – अभिवादन करने हेतु सारे वन्य प्राणी सिंह, हाथी, महिष, हिरण, नाग आदि उमड़ पड़े हैं, कहीं बुद्ध के स्तूप की पूजा अर्चना के लिए हाथियों के समूह कमल के पुष्प लिए हुए चले आ रहे हैं तो कहीं पर भगवान बुद्ध के पुनर्जन्म के दृश्य अंकित हैं। जिस समय वे छः दान्त वाले हाथी थे, वे अपनी हथिनियों के साथ कमल सरोवर में स्नान कर रहे थे। उन पर एक हाथी गजपतित्व का सूचक छत्र लगाये हुए है तथा दूर से शिकारी उन पर बाण से निशाना लगा रहा है। कहीं पर भगवान बुद्ध के घर से निकलने का दृश्य अंकित है और कहीं बोधिवृक्ष पर पंख वाले नभचर फूल मालाएं चढ़ा रहे हैं तथा कहीं पर ऋषि–मुनियों के आश्रम के दृश्य हैं। इन सभी की खुदाई लकड़ी की शिल्पकारी की तरह चपटी तथा आधा उभार लिए मोटी सीमा रेखा के साथ अलंकृत हैं। उत्कीर्ण कार्य में यथार्थता का सर्वथा अभाव है। आकृतियाँ अनुपात से छोटी बनाई गई हैं। पुरुष और नारी दोनों ही आभूषण व पारदर्शी वस्त्र धारण किये हुए हैं। संयोजन में मुख्य आकृति को अन्य सहयोगियों से बड़ा व बीच में बनाकर महत्त्व प्रदान किया गया है। रिक्त स्थानों पर फूल–पत्तियों, ज्यामितिक आकारों, थलचर व जलचरों को क्रमानुसार उत्कीर्ण किया गया है। सबसे अंत में मूल विषय को उत्कीर्ण किया गया है।

सांची के सम्पूर्ण स्तूप का निर्माण बौद्ध धर्म की पूजा व धर्म प्रसार के लिए किया गया था, लेकिन यहाँ पर भगवान बुद्ध की उपस्थिति मानव रूप में कहीं भी उत्कीर्ण नहीं की गई है, बल्कि प्रतीक माध्यमों यथा – खाली सिंहासन, चरण चिह्न, कमल–दल, धर्मचक्र आदि धार्मिक संकेतों के माध्यम से

दर्शाई गई है। इसके अतिरिक्त यह स्तूप मानवाकृतियों से भरा हुआ है। यहाँ की शिल्प कला में माया देवी का स्वप्न, बुद्ध का गृह त्याग, षडदंत जातक, मृग जातक, जेतवन का दान आदि प्रमुख हैं।

सांची की शिल्पकला से यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि उस काल में लाक्षणिक पद्धति से ही बुद्ध के जीवन सम्बन्धित घटनाओं का शिल्पांकन किया गया था। स्तूपों में मनुष्य द्वारा जो भाव प्रदर्शित किये गए हैं, उन्हें प्रस्तर कला में स्पष्टतया परिलक्षित करके प्रदर्शित किया गया है और विद्याधरों के हाथों से माला अर्पण किये जाने के दृश्यों की रचना की गई है। धर्मचक्र से भगवान बुद्ध का एकाकार स्थापित करके धर्म आराधना के दृश्य शिल्पांकित किये गए हैं।

सांची स्तूप की कला में एक स्थान पर हिन्दू मूर्ति शिल्प का भी शिल्पांकन किया गया है। धन–वैभव की देवी लक्ष्मी कमल पुष्पदल पर आश्रित शिल्पांकित की गई है। उनके बायें भाग व दाहिने भाग में दो हाथी अपनी सूंडों में जल पात्र पकड़े हुए लक्ष्मी पर जल उंडेल रहे हैं। इस मूर्ति शिल्प से यह आंकलन किया जा सकता है कि शुंगकाल में हिन्दू धर्म का प्रभाव पड़ा तथा मूर्ति शिल्प का निर्माण प्रारंभ हो गया था। इस प्रकार दोहरी वेष्टिनी जो बहुत भारी और काफी ऊँचाई लिए हुए है, इस पर स्थान–स्थान पर फूलों का शिल्पांकन किया गया है तथा जगह–जगह गोमूत्रिका की दौड़ का भी निर्माण किया गया है। इन सभी स्थानों में भगवान बुद्ध की मूर्ति का कहीं पर चित्रण नहीं किया गया है, बल्कि बुद्ध का आभास करवाने के लिए धर्म संकेतों के द्वारा उनकी उपस्थिति का आभास करवाया गया है, जैसे स्वास्तिक चिह्न, चरण, कमल आदि। इस प्रकार सांची का तक्षण कार्य एवं मूर्ति शिल्प इतना उत्कृष्ट बना हुआ है कि उसका वाणी द्वारा वर्णन भी असंभव सा प्रतीत होता है।

साँची कला

ऐतिहासिक घटना दृश्य

सांची स्तूप के तोरण द्वार पर कुछ ऐतिहासिक घटनाओं के दृश्य बहुत कलात्मकता के साथ उत्कीर्ण किये गये हैं। एक दृश्य में सम्राट अशोक को तिष्यरक्षिता के साथ हाथी से उतरते हुए उत्कीर्ण किया गया है। वह रामग्राम स्तूप के दर्शन के लिए गया हुआ था। साँची स्तूप के तोरण पर बुद्ध की अस्थियों के विभाजन की ऐतिहासिक घटना के दृश्य का अंकन बहुत विस्तार एवं सुघड़ता पूर्वक किया गया है। बुद्ध के जीवन का अन्त वर्तमान के देवरिया जनपद के अन्तर्गत कुशीनगर नामक स्थान पर हुआ था। बुद्ध के महानिर्वाण के समय कुशीनगर के मल्ल लोग वहाँ पर उपस्थित थे तथा सूचना पाकर कपिलवस्तु के शाक्य लोग भी वहाँ पहुँच गये और कई राजवंशों के द्वारा बुद्ध के शरीर के अवशेष प्राप्त करने हेतु विवाद उत्पन्न हो गया। इस कारण आठ राजवंशों में उनके शरीर के अवशेष प्राप्त करने हेतु की गई संधि के अनुसार संघर्ष होने लगा, अतः उनके शरीर की अवशेष राख को आठ बराबर भागों में बांट कर वितरित कर दी गई।

सभी अपने–अपने हिस्से की राख लेकर चले गए। साँची स्तूप के दोनों तोरणों की बड़ेरियों पर इस घटना का दृश्य उत्कीर्ण किया गया है। इस दृश्य में रथ, हाथी, घुड़सवार तथा पैदल चतुरंगी सेना को अपने अस्त्र–शस्त्रों सहित महल के चारों ओर युद्ध करते हुए उकेरा गया है। दृश्य के ऊपर के हिस्से में भस्मी के पात्र को हाथियों पर रखे हुए उत्कीर्ण किया गया है जो भगवान बुद्ध का प्रतीक चिह्न है यह दृश्य यह दर्शाता है कि बुद्ध की भस्मी के आठ भाग अलग–अलग स्थानों पर हाथी पर रखकर गन्तव्य तक पहुँचाया जा रहा है। सांची के स्तूप के पश्चिमी तथा दक्षिणी तोरण पर उकेरा गया यह ऐतिहासिक दृश्य शिल्पकला की दृष्टि से अत्यंत उत्कृष्ट है।

षडदंत जातक कथा

इस जातक कथा के दृश्य को सांची के तोरण की पूरी बड़ेरी पर विस्तृत रूप से दर्शाया गया है। षडदंत जातक की कथा के अनुसार बोधिसत्व अपनी दो रानियों चुल्लसुभद्रा और महासुभद्रा में से महासुभद्रा के प्रति विशेष अनुरक्त थे। इस कारण चुल्लसुभद्रा बोधिसत्व और महासुभद्रा से नाराज होकर द्वेष भाव रखने लगी। मृत्यु के बाद चुल्लसुभद्रा ने काशी के राजा ब्रह्मदत्त की पत्नी के रूप में जन्म लिया। उसको इस बात का पता चला कि बोधिसत्व मानसरोवर में छह दांतों वाले हाथी के रूप में रहता है। उसने व्याध को उस छह दांत वाले हाथी को मारकर लाने का आदेश दिया। जब व्याध हाथी को मारकर छह दांत लाने मानसरोवर पहुँचा तो बोधिसत्व को उसके इरादे का पता चल गया और उन्होंने अपने छह दांतों को निकाल कर व्याध को दे दिया। व्याध जब बोधिसत्व के छह दांत लेकर रानी के पास पहुँचा और छह दांत रानी के सम्मुख प्रस्तुत किये, जिसे देखकर रानी तुरन्त मूर्छित हो गई और अन्त में उसकी मृत्यु हो गई। इस दृश्य के प्रदर्शन में हाथी और उसके सामने व्याध को हाथों में दाँत लिए हुए दर्शाया गया है। उस स्थान पर ब्राह्मी में 'छः दंतीय जातक' उत्कीर्ण किया गया है। शायद उसमें यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि रानी चुल्लसुभद्रा की इस कपटपूर्ण योजना की सम्पूर्ण जानकारी बोधिसत्व को हो गयी थी। इस कारण उन्होंने अपने छह दांत स्वयं निकाल कर व्याध को दे दिये थे। इस दृश्य में सारी कथा न दर्शा कर सिर्फ एक अंश का ही प्रदर्शन किया गया है।

भरहुत

शुंगकालीन मूर्तिकला में दूसरा प्रमुख स्थान भरहुत का है जो मूर्तिकला की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यह स्थान विन्ध्य प्रदेश के नागोद राज्य में इलाहाबाद और जबलपुर के बीच लंगरगवां स्टेशन के बीच स्थित है। सन् 1873 में जनरल कनिंघम ने यहाँ पर एक बहुत बड़े बौद्ध स्तूप के अवशेष प्राप्त किये और प्रदर्शन हेतु सबका ध्यान उस ओर आकृष्ट किया। उस काल में स्तूप निर्माण का ध्येय यश की प्राप्ति और मोक्ष मार्ग को सरल करना था। स्तूप सम्पूर्ण हो जाने पर उसे 'शाम्यक–विहार' के नाम से प्रसिद्धि मिली। तत्कालीन राजा प्रसेनजित की पुरोहित बावरी की कथा में उज्जैन से कौशाम्बी तक के नगरों के नाम में 'वलसेत' मिलता है। जनरल कनिंघम के मत के अनुसार यूनानी टालमीक के प्रसिद्ध नक्शे में 'वरदा आतिश' उद्घृत है। इसे आसपास के वर्तमान लेखक 'नाग वरदावती' वर्णित करते हैं। उस काल में स्तूप का निर्माण कार्य बहुतायत से करवाया गया। उत्तर से दक्षिण भारत तक बहुत से स्तूपों में विभिन्न प्रकार की आकृतियाँ बनवाई गईं। स्तूप निर्माण करवाकर व्यक्ति स्वयं को यश का भागी समझता था और इसी यश के कारण स्वयं को आदर से निर्वाण के मार्ग का अनुगामी महसूस करता था। अतः स्तूप के तैयार हो जाने पर भरहुत स्तूप 'शाम्यक विहार' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जनरल कनिंघम को अपनी खोज के समय वहाँ पर एक विहार के अवशेष भी प्राप्त हुए। स्तूप के पूर्वी तोरण पर एक लेख भी मिला। उसके अनुसार स्तूप का ''सुगम राज्य'' में होना पाया जाता है। इस 'सुगम' शब्द का अर्थ शुंग यानी शुंगवंशी राज्य का बोध करवाने वाला है। सन् 1874 में जनरल कनिंघम ने इस स्तूप की खुदाई कराई। खुदाई में जो तोरण, स्तंभ सूची आदि प्राचीन शिल्पकला के अनुपम अवशेष प्राप्त हुए थे वे कलकत्ता संग्रहालय को भिजवा दिए गये, जो वहाँ आज भी सुरक्षित हैं। मूल स्तूप के स्थान पर सिर्फ मिट्टी ही शेष रही है। भरहुत के तल का व्यास 68 फुट था। इसके चारों तरफ फर्श पर 10 फीट 3 इंच चौड़ी परिक्रमा बनी हुई थी। इसके बाद प्रवेष्टिनी हेतु लाल रंग का पत्थर प्रयोग में लिया गया है। यह पत्थर चुनार पत्थर की भांति रवादार है। भीतर का समाधि स्तूप 12 इंच लम्बी और साढ़े तीन इंच मोटी ईंटों का बना हुआ था। प्रवेष्टिनी के चारों दिशाओं में एक द्वार बना हुआ था। द्वार के तोरण 20 फीट

से अधिक ऊँचे बने हुए थे। प्रवेष्टिनी कभी मूर्तिशिल्प से अलंकारित थी। बाड़ के प्रत्येक भाग पर बौद्ध कथाएं, अलंकरण गोमूत्रिका, यक्ष–यक्षिणियाँ आदि शिल्पित हैं। भरहुत कला की मूर्तियों के विषय विभिन्न प्रकार के हैं, जिनमें कई विषय तो बहुत ही प्रमुख हैं जैसे जातकों के दृश्य, भगवान बुद्ध के जीवन चरित्र सम्बन्धी घटनाएँ एवं ऐतिहासिक घटनाओं के दृश्य आदि। खम्भों पर देवी–देवताओं, यक्ष, नाग आदि की मूर्तियाँ शिल्पित की गई हैं। वृत्तों एवं अर्द्धवृत्तों में कहीं पर कमल, कहीं भगवान बुद्ध के चरित्र सम्बन्धी जातक कथाएँ शिल्पित की गई हैं। यहाँ पर अधिकतर वामन मनुष्य की पीठ पर यक्षिणियों की खड़ी मूर्तियाँ शिल्पित की गई हैं। यहाँ की कलाकृतियों में डंठल सहित कमल पूर्णघट के मुख से निकलता हुआ शिल्पित किया गया है। कहीं–कहीं कमल के बीच में यक्ष, यक्षी आदि भी चित्रित किये हुए हैं। भरहुत स्तूप में भी लाक्षणिक पद्धति से ही भगवान के उष्णीस की पूजा देवलोक में दिखलाई गई है। भरहुत के स्तंभों तथा सूची आदि पर दाता के नाम अथवा दृश्य के वर्णनात्मक संक्षिप्त वाक्य भी खोदे गये हैं। इस शिल्पकला में कई दृश्यचित्र भी शिल्पित किये गए हैं जैसे राजा प्रसेनजित की रथ की सवारी, बोधिवृक्ष की पूजा, हाथी पर मगधराज, अजातशत्रु की सवारी आदि। भरहुत कला में विशेष प्रकार के वृक्षों सहित अनेक प्रकार की मूर्तियाँ मिली हैं। इनकी सुन्दरता, सजीवता तथा अलंकरण बहुत दर्शनीय है। इनमें व्यावहारिक जीवन से सम्बन्धित कुछ उपयोगी वस्तुओं के भी नमूने प्राप्त हुए हैं। इसके अलावा स्तूप की छत पर बुद्ध के धर्मोपदेश भी खुदे हुए हैं, जिसका बड़ा भाग पत्थर टूटने के कारण नष्ट हो गया है। स्तूप की मेढ़ पर लम्बाई व चौड़ाई में बड़े–बड़े गोल स्थान खाली छोड़े हुए हैं। जिसे देखकर लकड़ी पर की गई शिल्पकारी का आभास होता है। इन पदकों की शिल्पकारी बहुत ही समृद्ध एवं भिन्नता लिए हुए है। ये पदक ज्यामितीय रूप में बनाये गए हैं। रिक्त स्थानों पर मनुष्य के सिर, पशु और बहुत ही जटिल आकृतियाँ उकेरी गई हैं, जिनमें क्रम का सामंजस्य नहीं है, जिससे प्रतीत होता है कि ये सभी अलग–अलग समय में निर्मित की गई हैं। भरहुत स्तूप के उत्तरी द्वार के बांयी ओर रेलिंग पर धन के राजा कुबेर का चित्र शिल्पित किया गया है तथा साथ ही यक्षिणी चंद्रा को फलक पर उत्कीर्ण किया गया है, जिसे धन और समृद्धि की देवी माना जाता था। नाग और शालभंजिका की भी विभिन्न प्रकार की कथाएं स्तूप पर उकेरी गई हैं जिन्हें विभिन्न प्रकार के जानवरों के प्रतीक माध्यम द्वारा पूरा किया गया है। भरहुत कला में देव–वाहनों का शिल्पांकन भी बहुतायत से किया गया है।

शुंगकाल की असंख्य मूर्तियाँ समस्त भारत में मिली हैं। इस काल के अन्य प्रमुख स्तूपों में बनारस के निकट सारनाथ व बौद्ध गया के स्तूप भी हैं। स्तूपकला भारतीय मूर्तिकला का स्वर्णिम अध्याय है, जिसकी तक्षणकला, संयोजन, विषय का प्रस्तुतीकरण एवं आकृतियों का शैलीकरण, स्थानीय लोककला का कृतियों में सम्मिश्रण, कलाकारों का आश्रयदाता की भावना के अनुसार चित्रण के मध्य अपने विचारों का सम्मिश्रण करना आदि इस कला के महत्त्वपूर्ण युग की महान उपलब्धि प्रतीत होती है, जिसका प्रभाव भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला परम्परा में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। साँची की मूर्तिकला में तक्षण कार्य की शैली चपटे तौर की है तो भरहुत कला में पत्थरों को काट कर उभारने का तक्षण कार्य अधिकता से किया गया है। समूचे पत्थर का रंग भूरा है।

भरहुत की कला में शुंगों की लोककला शैली बहुतायत से भरी है। भरहुत की शिल्पकला में हास्य–व्यंग्य का पुट है। चक्र मूर्ति को देखने मात्र से हंसी का फौव्वारा फूट पड़ता है। एक स्थान पर बन्दरों का समूह गाजे–बाजे के साथ एक हाथी को लेकर जा रहा है तथा दूसरे स्थान पर एक बड़ी संडासी से एक मनुष्य का एक दाँत उखाड़ा जा रहा है। इससे ज्ञात होता है कि भरहुत की शिल्पकला में लोककला का सम्मिश्रण है। इस कला में अशोककालीन खम्भों की भांति सुथरापन नहीं है।

महाकपि जातक कथा

बौद्ध साहित्य में जातक कथा साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें भगवान बुद्ध के पूर्व जन्म की पाँच सौ पचास कथाओं का संग्रह है। भरहुत स्तूप का काल बौद्ध धर्म के चरमोत्कर्ष का समय था, इसलिए स्तूप की वेदिकाओं पर इन जातक कथाओं को अलग–अलग फलकों पर बहुत सुन्दरता से उत्कीर्ण किया गया था। इसमें कुछ जातक कथाओं में महाकपि जातक कथा भी प्रमुख है। इस कथा में बतलाया गया है कि काशी के राजा ब्रह्मदत्त को एक मल्लाह ने मीठा फल दिया। राजा ने इस मीठे फल को अपनी रानी को खाने के लिए दिया। रानी ने इस स्वादिष्ट फल को खाकर सोचा कि जब यह फल इतना मीठा और स्वादिष्ट है तो खाने वाले जीव का दिल कितना मधुर एवं स्वादिष्ट होगा और रानी ने राजा ब्रह्मदत्त से उस प्राणी के दिल को खाने की इच्छा व्यक्त की। राजा ब्रह्मदत्त ने अपने सैनिकों को उस प्राणी का दिल लेकर आने का आदेश दिया। राजा का आदेश पाकर सैनिक नदी किनारे पहुँचे, जहाँ बन्दर पेड़ों पर चढ़कर इन फलों को खा रहे थे। सैनिकों के इरादों का बोधिसत्व को भान हो गया तो उन्होंने बन्दरों की रक्षा के लिए एक विशाल बन्दर का रूप धारण कर लिया तथा अपने एक हाथ से वृक्ष को पकड़ लिया और अपने पैरों से नदी के दूसरे किनारे तक फैला दिया, जिसे बन्दरों ने पुल की भांति प्रयोग में लिया और सारे बन्दर नदी के दूसरे किनारे चले गए व अपनी सुरक्षा कर ली। इस कथा को भरहुत शिल्पकला में सुन्दरता पूर्वक उत्कीर्ण किया गया है। इसके नीचे बोधिसत्व द्वारा सैनिकों के सरदार को अहिंसा का उपदेश देते हुए उकेरा गया है। कनिंघम के मतानुसार इन सभी कलाकृतियों का निर्माण भारतीय मूर्तिकारों द्वारा किया गया था, जो आज अलग–अलग हिस्सों में भारत के विभिन्न संग्रहालयों में सुरक्षित हैं।

जेतवन का दान

भरहुत की मूर्तिकला में वैसे तो विभिन्न विषयों पर मूर्तियों का निर्माण हुआ है, परन्तु बुद्ध के जीवन सम्बन्धी दृश्यों का शिल्पांकन अधिक हुआ है। इसमें एक मूर्ति शिल्प में जेतवन का क्रय और दान का शिल्पांकन अधिक आकर्षक हुआ है। इसकी कथा इस प्रकार है – बुद्ध के शासनकाल में कौशल की राजधानी श्रावस्ती का नगरसेठ सुदत्त था जो अनाथों को भोजन देने के कारण अनाथ पिंडत कहलाता था। वह भगवान बुद्ध का परमभक्त था। उसे बौद्ध संघ के लिए विहार बनवाने के लिए भूमि की आवश्यकता पड़ी, जिसका नाम कुमार के नाम पर जेतवन था। जेत ने उस भूमि का मोल सोने के सिक्कों द्वारा पूरित होना बताया, अर्थात सोने के सिक्कों द्वारा परिपूरित भू–भाग ही उसका मूल्य था। नगरसेठ सुदत्त ने इस शर्त को स्वीकार कर लिया, फिर उस भू–भाग पर विवाद उत्पन्न होने के कारण न्यायालय द्वारा नगरसेठ के पक्ष में निर्णय हुआ, क्योंकि असंभव धनराशि मांगने पर भी सुदत्त ध

जैतवन का दान

ानराशि देने को तैयार हो गया था। उस भूमि को लेकर सुदत्त ने वहाँ बौद्ध मठ का निर्माण करवाया। इस मूर्ति में शिल्पकार ने तीन वृक्षों तथा वास्तुदानी जेतवन को शिल्पित किया है, उससे आगे एक बैलगाड़ी से स्वर्ण मुद्राएँ उतारने का दृश्य अंकित किया हुआ है। इन मुद्राओं को आदमी भूमि पर बिछा रहे हैं। ये सभी स्वर्ण मुद्राएँ शुंगकाल की मुद्राओं की भांति चौकोर आकार वाली है। इस दृश्य में नगरसेठ सुदत्त जल की झारी लिए हुए वन का दान कर रहा है, दूसरी ओर संघ की भीड़ खड़ी हुई है। इस दृश्य में बुद्ध का प्रतीक भद्रासन भी बना हुआ है, क्योंकि साँची मूर्तिकला की तरह भरहुत में भी बुद्ध मूर्ति का अभाव है। यह मूर्तिशिल्प चपटे डील डौल का ही है, अर्थात मूर्तियाँ न होकर पत्थर पर काटे हुए चित्र हैं। भरहुत का मूर्तिशिल्प लोककला प्रतीत होता है। इसमें वह सुथरापन नहीं है जो अशोककालीन खम्भों व साँची के तोरणद्वारों में हैं।

अभ्यास प्रश्न

लघुउत्तरात्मक प्रश्न

1. सांची स्तूप कहाँ पर स्थित है ?
2. स्तूप निर्माण का उद्‌देश्य क्या था ?
1. सांची एवं भरहुत स्तूपों के मूर्तिशिल्प के विषय बताइये ?

वर्णनात्मक प्रश्न

1. शुंगकाल के मूर्तिशिल्प का वर्णन करते हुए बताएं कि इस काल में किस प्रकार की मूर्तियों का निर्माण हुआ था ?
2. सांची स्तूप का वर्णन करते हुए बताएं कि इसमें निर्मित मूर्तियों का प्रमुख विषय क्या है ?

कुषाणकाल (गांधार एवं मथुरा)

लगभग 120–115 ई. पू. मध्य एशिया में विभिन्न जातियों की उथल–पुथल के कारण शक, भारतवर्ष की ओर आये और सिन्ध प्रान्त पर अपना आधिपत्य जमाया। इस केन्द्र से उन्होंने अधिकांश पश्चिमी भारत पर अपना आधिपत्य कायम कर लिया और उनका राज्य मथुरा तक पहुँच गया। इससे वहाँ की शुंग शासकों की सत्ता समाप्त हो गई। इस आघात से शुंग शासकों को ऐसा धक्का लगा कि शीघ्र ही मगध राज्य में उनका अधिकार समाप्त करते गए तथा अंतिम शुंग शासक से उनके काण्ववंशीय ब्राह्मण सचिव ने उसका राज्य 73 वीं ई. पू. छीन लिया। दूसरी ओर सिन्ध से शक गान्धार की ओर बढ़ते हुए मुसलमान शासकों के राज्यों का सफाया हो गया था, किन्तु यह शक साम्राज्य ज्यादा दिनों तक टिक नहीं सका। आन्ध्र प्रदेश के शासक गौतमी पुत्र शातकर्णि और मालव के शासकों ने मिलकर उज्जैन में शकों को हराया और सारे भारतवर्ष से शक साम्राज्य की नींव उखाड़ दी, फलस्वरूप गौतमी पुत्र का विरुद शकारि विक्रमादित्य हुआ और उसके नाम पर लगभग 57 ई. पू. विक्रम संवत् चला। उसके बाद आन्ध्रवंश के साम्राज्य का बहुत ही उत्थान हुआ। गौतमी पुत्र के पुत्र वशिष्टी पुत्र पुलमावि ने लगभग 44–8 ई. पू. काण्व नरेशों से मगध राज्य भी जीत लिया। इसी समय लगभग 28 ई. पू. रोम साम्राज्य की स्थापना हुई। गौतमी पुत्र के लड़के वशिष्टी पुत्र पुलमावि ने रोम सम्राट के पास अपने राजदूत भेजे थे। लगभग सौ वर्षों तक आन्ध्रवंश के शासक भारत के सम्राट रहे। तत्कालीन समय में उनका दरबार विद्या एवं संस्कृति का केन्द्र रहा था। यह शासनकाल आन्ध्र नरेशों की समृद्धि का अद्वितीय काल था।

लगभग 50 ई. पू. शकों की दूसरी शक्ति ने भारतवर्ष की ओर रुख किया। ऋषीक और उसके पड़ौसी तुखार की अगुवाई में भारत की ओर अग्रसर हुए जो कुछ सभ्य हो चुके थे और हिंदूकुश के दक्षिण भाग में इनके लगभग पाँच राज्य स्थापित हो चुके थे, कुछ समय पश्चात् उसके राज्य का एक सरदार कुषाण बड़ा शक्तिशाली योद्धा हुआ, जिसने अन्य चार शक राज्यों को अपने अधिकार में ले लिया तथा समस्त अफगानिस्तान, कपिश तथा पूर्वी पश्चिमी गांधार, तक्षशिला व पुष्करावती को भी अपने अधीन कर लिया। बलख, पामीर और उसके ऊपर तक उसका ही साम्राज्य था। उसके साम्राज्य से पूर्व भी भारतीय संस्कृति की जड़ें इतनी जमी हुई थीं कि विद्वान लोग उस प्रदेश को इतिहास में अपर भारत कहते थे। इस प्रकार कुषाण राज्य की पश्चिमी सीमा पूर्व ईरान तक पहुँच गई थी।

कुषाण बौद्ध धर्म का अनुयायी था। उसने अपने साम्राज्य की स्थापना के बाद 2 ई. पू. अपने दूतों के माध्यम से बौद्ध सम्प्रदाय की एक पुस्तक चीन भेजी थी। लम्बे समय तक शासन के बाद 30 वीं. सदी में 80 वर्ष की उम्र में कुषाण का देहान्त हो गया। उसके बाद उसके पुत्र विमकदफ ने शासन की बागडोर संभाली, जिसका राज्य लगभग 30 से 77 ई. तक चला। विमकदफ शैव धर्म का अनुयायी था। उसने अपने राज्य को मथुरा तक फैला लिया, उसके विशाल साम्राज्य की सीमा आन्ध्र साम्राज्य को छूती थी। विमकदफ का उत्तराधिकारी कुषाण काल का अंतिम शासक सुप्रसिद्ध राजा कनिष्क हुआ, जिसने मध्य भारत और मगध तक अपनी पूरी सत्ता कायम कर ली थी। उसने लगभग बीस वर्ष तक अपना राज्य चलाया और पुष्करावती में पेशावर (पुरुषपुर) बसा कर उसको अपने राज्य की राजधानी बनाया। सातवाहनों के दरबार की तरह उसका दरबार भी संस्कृति और विद्या का केन्द्र था। वह सक्रिय बौद्ध अनुयायी था जिसने अपने शासनकाल में सोने के सिक्के चलाये, जो कला की दृष्टि से अद्वितीय थे। बौद्ध सम्प्रदाय शनै–शनै हिन्दू संप्रदाय और भक्ति मार्ग से प्रभावित होने लगा जिसके कारण बौद्ध

सम्प्रदाय के लोग बुद्ध को महापुरुष के अलावा प्रमुख देवता मानने लगे थे। उनका विश्वास था कि भगवान बुद्ध, बुद्धत्व प्राप्ति के लिए अनेक जन्मों से साधना करते आ रहे हैं। तब वे बोधिसत्व कहलाते थे जिनकी पूर्व जन्म कथाएँ, जातक कथाओं के नाम से प्रचलित थीं। इन कथाओं ने अवतार और गौड़ देवताओं का स्थान लिया। इतना ही नहीं, नये अलौकिक देवताओं की भी कल्पना की जाने लगी। इस कारण बौद्ध सम्प्रदाय का स्वरूप ही बदल गया और इसमें मूर्ति पूजा भी होने लगी तथा बुद्ध की मूर्तियाँ बनने लगीं। उनका यह रूप महायान तथा पुराना रूप हीनयान भी मूर्तिपूजा से बच नहीं सका। कनिष्क महायान सम्प्रदाय का ही अनुयायी था। उसने पेशावर तथा अन्य कई स्थानों पर स्तूप और विहार आदि का निर्माण करवाया और दूर–दूर तक बौद्ध धर्म का प्रचार भी करवाया। इस महान सम्राट के वंश का उत्थान लगभग 175 ई. तक रहा। बाद में उसकी प्रभुता उसके राज्य के सूबेदारों में बंट गई। उसके उत्तराधिकारी एवं सूबेदार कट्टर बौद्ध अनुयायी थे। उन्होंने यौधेयों के गणतंत्र सहित कई भारतीय राज्यों को विजित किया जो इससे पूर्व किसी भी देशी या विदेशी शत्रु से नहीं हारे थे। लगभग दूसरी सदी के अन्त एवं तीसरी शदी के आरम्भ में शकों का आधिपत्य क्षीण होने लगा और उनका आधिपत्य मध्य एशिया, काबुल और पंजाब में ही बचा रहा। कुषाण वंश एक बड़े ग्वाल समूह का एक भाग था जिसे सिदियन जाति भी कहते हैं। कनिष्क के साम्राज्य में सोने के सिक्कों का प्रचलन भी हुआ, जिस पर भगवान बुद्ध एवं कनिष्क के चित्र लिपि के साथ अंकित किये गए थे। अनुमानतः इन सिक्कों का प्रचलन देशी व विदेशी व्यापार के लिए किया गया था।

कुषाण काल में ही सर्वप्रथम भगवान बुद्ध की मानव रूप में मूर्तियों का निर्माण किया गया और बुद्ध को महापुरुष के स्थान पर देवता माना जाने लगा, जिसके कारण बौद्ध धर्म में मूर्ति पूजा प्रचलित हो गई। गांधार के शिल्पकारों ने एक नई मूर्ति शिल्प पद्धति अपनाई, जिसके कारण बौद्ध विषय यूनानी शिल्प पद्धति में शिल्पित किये गए और बौद्ध मूर्तियों का निर्माण होने लगा। इस काल के मुख्य कला केन्द्रों में गान्धार व मथुरा है।

गान्धार

गान्धार मूर्ति शिल्प कला का जन्म कनिष्क महान के शासनकाल से माना जाता है जो भारत के पश्चिमी पंजाब से अफगानिस्तान तक फैला हुआ था। बीसवीं सदी के इतिहासकारों को काले पत्थर, प्लास्टर व चूने–मसाले के मिश्रण के मूर्ति शिल्प प्राप्त हुए हैं जिनका विषय सर्वथा बौद्ध धर्म से सम्बन्धित है। सर जॉन मार्शल एवं स्मिथ के मतानुसार इस कला पर यूनानी शैली का प्रभाव है परन्तु डॉ. आनन्द कुमार स्वामी के मतानुसार इस शिल्प कला पर भारतीय मूर्ति शिल्प की छाप स्पष्ट परिलक्षित होती है। मूर्तिकला के विशेषज्ञों की राय में ये सभी मूर्तिशिल्प 50 ई. पू. से 300 ई. पू. तक के समय के हैं। इससे पूर्व व बाद में इनका कोई अस्तित्व नहीं था, हालांकि गांधार शैली का सारा तिथिक्रम विवादास्पद रहा है परन्तु गांधार प्रदेश से कुछ ऐसी बुद्ध प्रतिमाएँ भी प्राप्त हुई हैं, जिन पर कुछ अज्ञात संवत की तिथियों का अंकन किया गया है। ममानो ढेरी, लोरिया ढंगई, हस्तनगर और सहरी बलोल आदि स्थानों से प्राप्त कुछ बुद्ध प्रतिमाओं में 167, 318, 384 एवं 399 वें वर्ष उत्कीर्ण किये हुए हैं, किन्तु उनके सम्वत् का उल्लेख नहीं किया गया है। ऐसा माना जाता है कि गांधार प्रदेश में उस समय में अनेक संवत् प्रचलन में थे। विद्वान फ्रुशे के अनुसार ये मूर्तिशिल्प सेल्यूकस के सम्वत् से सम्बन्धित हैं और उन्होंने इस कला को दसवीं सदी के प्रारंभ से माना है।

हर एक कला के उत्थान और पतन का एक क्रम होता है। ऐसा संभव नहीं होता कि कोई कला एकाएक परिपक्व शैली प्राप्त कर ले और यकायक उसका ह्रास हो जाय, किन्तु गांधार शैली का हश्र यही

हुआ। कनिष्क के उत्तराधिकारी वासुदेव शैव मतानुयायी थे, जिसके कारण उसके शासन काल में हिन्दू धर्म की मूर्तियों का निर्माण किया गया था। इसका प्रभाव बौद्ध धर्म पर पड़ा और इस धर्म में भी बुद्ध देवी देवताओं की मूर्ति शिल्प में कल्पनाएँ साकार होने लगीं। इस प्रकार बौद्ध धर्म का स्वरूप बदलने लगा। कुषाण के शासनकाल में भी बुद्ध की मूर्तियों का निर्माण हुआ था। कुषाण शासक स्वयं को देवता मानते थे। इस कारण गांधार मूर्ति शिल्प में आस्था और सांसारिकता का प्रभाव रहा, जिसका प्रभाव मध्य एशिया की कला पर भी पड़ा।

बौद्ध विषयों पर मूर्ति अंकन के लिए गांधार प्रदेश के शिल्पकारों को कल्पना का ज्यादा सहारा नहीं लेना पड़ा। उनको साहित्यिक ग्रंथों के वर्णन के अनुसार तथा पूर्व निर्मित मूर्ति शिल्प में, मूर्तियों के हाथ–पैर की अंगुलियों की रचना जिस गति एवं लचक से निर्मित की गई है वह पूर्णतया भारत की पूर्व कला से ही प्रभावित है, किसी अन्य देश की कला से नहीं। गान्धार शैली की अनेक मूर्तियाँ हाथी दाँत की बनी हुई अफगानिस्तान से प्राप्त हुई हैं, जिनके आधार पर विद्वानों का मत है कि इस कला पर साँची की मूर्तिकला की स्पष्ट छाप परिलक्षित होती है। गांधार शैली में मूर्तियों के हाथ–पैर की अंगुलियां, आँखें, भौंहें, अलंकरण आदि अजन्ता के गुफा चित्रों की भांति है। इस कला में बुद्ध का मुख अण्डाकार आकृति का बनाया गया है जो यूनानियों के सूर्यदेव 'अपोलो' से मेल खाता है, जिसके सिर पर घुंघराले बाल जूड़े में बंधे हुए हैं, जो पूर्णतया भारतीय मूर्तिकला का आभास कराते हैं। वस्त्रों की सलवटों को गहरी लकीरों से बनाया गया है। भगवान बुद्ध के अधखुले नेत्र तथा मुँह पर कान्ति का भाव एवं लम्बे कानों को उत्कीर्ण कर आध्यात्मिक भावों को प्रकट किया है। आँख एवं भौंहें कटावदार तथा पलकें भारी हैं। ग्रीक कला में आँखें तो बड़ी होती हैं परन्तु उनमें कटाव का सर्वथा अभाव रहता है। उनकी पलकें छोटी तथा अन्दर की ओर धंसी प्रतीत होती हैं। यक्षिकाओं की कटि अति क्षीण और नितम्ब अतिरिक्त भारी उत्कीर्ण किये गये हैं। कटि–बाहु और पैर की मुद्राएँ तथा वस्त्रों की सलवटें सवर्था भारतीय ही परिलक्षित होती हैं। वृक्षों के नीचे खड़ी की गई नारियों के उन्नत वक्षस्थल, लचकदार बांहें और पाँवों की स्वाभाविक कमनीय मुद्राओं को देखने से यह प्रतीत होता है कि यह कला किसी अन्य देश की हो ही नहीं सकती, अपितु पूर्णतया भारतीय कला ही है तथा स्वतंत्र चित्रण यथा–अलंकरण, गोमूत्रिका तथा पद्म आदि प्रतीक भी पूर्णतया भारतीय कला के ही हैं जो शुंगकालीन कला से मिलते–जुलते हैं। गांधार मूर्तिकला में बोधिसत्व मूर्तियों में हाथ में कमल लिये हुए, पुस्तक लिये हुए, मंजूषा तथा अमृत घट लिये मैत्रेय को आभूषणों से अलंकृत किया गया है। गांधार शिल्प शैली में शिल्प संयोजन, शिल्प निर्माण के मापदण्डों के अनुसार सिन्धु घाटी की शिल्प कला की परम्परा के अनुसार किया गया है, जिसमें भगवान बुद्ध के जीवन की विविध घटनाओं का अंकन किया गया है। इनमें माया देवी का स्वप्न तथा गर्भ धारण, भगवान बुद्ध का जन्म, बुद्ध का यशोधरा से विवाह, राजसी दृश्य, धातु पूजा, त्रिरत्न पूजा, धर्मचक्र प्रवर्तन आदि दृश्यों का आकर्षक अंकन है। इस प्रकार गान्धार की कला में बुद्ध के जीवन की सामान्य घटनाओं से लेकर महत्त्वपूर्ण घटनाओं तक को शिल्पित किया गया है। रायकृष्णदास के मतानुसार गांधार मूर्तिकला को भारतीय मूर्तिकला की श्रेणी में नहीं गिना जा सकता, क्योंकि गांधार कला में भारतीय एवं विदेशी कलाओं की भावात्मकता एवं आध्यात्मिकता पूर्ण रूप से अभिव्यक्त नहीं हो सकी है और यह शैली दोनों ही कलाओं के दृष्टिकोण से असफल ही रही है और इस कला ने भारतीय मूर्तिकला पर भी कोई खास प्रभाव नहीं छोड़ा है।

मैत्रेय की मूर्ति

मूर्ति और प्रतिमा में मूल रूप से अन्तर है। मूर्ति सांसारिक मनुष्यों या प्राणियों की आकृति होती

मैत्रेय मूर्ति

है जबकि प्रतिमा देवी–देवताओं, महात्माओं या स्वर्गवासी पूर्वजों की होती है। अतः कलाकार प्रतिमा निर्माण में पूर्ण स्वतंत्र नहीं होता तथा मूर्ति के निर्माण में कलाकार स्वतंत्र होता है। उसकी सभी प्रकार की शिल्पकला की कारीगरी उसमें प्रदर्शित होती है। उत्तर–पश्चिम भारत का प्राचीन नाम गांधार था। भौगोलिक दृष्टि से गांधार प्रदेश ऐसा था जहाँ भारतीय, ईरानी, यूनानी तथा रोमन संस्कृतियों का संगम होता था। परिणामस्वरूप इस स्थान की कला में पूर्व और पश्चिम की कला परम्परा का दर्शन होता है।

इस परम्परा की अहिच्छत्र से प्राप्त मैत्रेय की मूर्ति गांधार कला की उत्कृष्ट मूर्ति है। गांधार मूर्तियों का शारीरिक अनुपात रोमन मूर्तियों से सादृश्य रखता है और आरंभिक मूर्तियों में जो सुकुमारता और तरलता परिलक्षित होती है, उनमें धीरे–धीरे कड़ापन आने लगता है। गांधार शैली की मूर्तियां अधिकांश भारतीय विषय, बौद्ध धर्म और परम्परा से सम्बन्धित हैं। गांधार शैली की मूर्तियां यूनानी कला परम्परा के प्रभाव के कारण स्वस्थ निर्दोष शरीर के आधार पर उत्कीर्ण की गई हैं। जिनमें शरीर रचना विज्ञान पर विशेष ध्यान दिया गया है। मैत्रेय की मूर्ति में सौन्दर्य पक्ष मैत्रेय के मुख मण्डल के साथ आध्यात्मिक भाव बोध की सहज रूप में प्रस्तुति है। मुख मण्डल पर माधुर्य तथा पीछे प्रभामण्डल का निर्माण किया गया है। चेहरे पर कांति का भाव है तथा लम्बे कान आध्यात्मिक भावों को उजागर करते है।

शिल्पकला की दृष्टि से गांधार शैली में अंग सौष्ठव की सूक्ष्मता और भौतिक सौन्दर्यांकन को अधिक महत्त्व दिया गया है। गांधार शैली में निर्मित मूर्तियों में आभूषण का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया गया है। मैत्रेय की मूर्ति का एक हाथ अभय मुद्रा में है तथा दूसरे हाथ में अमृत कलश लिये हैं। कानों में कुण्डल और कमर पर मेखला या कायबन्धन कसा हुआ है। कंधे पर गले में यज्ञोपवीत के साथ मूर्ति के गले में कण्ठा तथा वक्ष पर लटकता हुआ हार है। एक कन्धे पर दुपट्टा है। बाहुओं में बाजूबन्द तथा हाथों में कड़े हैं। मैत्रेय की यह मूर्ति महाकाय और भारी भरकम है और शरीर रचना विज्ञान की दृष्टि से तथा मूर्तिकला परम्परा के प्रभाव के कारण स्वस्थ और निर्दोष शरीर के आधार पर गढ़ी गई है जो गांधार मूर्ति शिल्प का अनुपम उदाहरण है।

बुद्ध मूर्ति

गांधार कला के अस्तित्व में आने से पहले जातक कथाओं तथा बुद्ध के जीवन की घटनाओं को

बुद्ध मूर्ति

पत्थर पर उकेरा जाता था। गांधार मूर्तिकला में बुद्ध मूर्ति का निर्माण हुआ। गांधार काल की मूर्तिकला मथुरा की मूर्तिकला से मेल नहीं खाती है। सहरी बहलोल से प्राप्त बुद्ध की मूर्ति आठ फीट आठ इंच ऊँची है। इस मूर्ति में कलात्मक भाव अधिक प्रदर्शित किया गया है। मूर्ति में ललाट में उर्णा (रोमगुच्छ) के स्थान पर एक छोटा गढ्ढा दिखाया गया है। शायद पहले इसमें कोई नग आदि जड़ा गया था। हाथ जालांगुलिकर है, बालों में घुमाव एक सीध में समान्तर है, जिसमें बीच का भाग उष्णीय का उठा हुआ है। इस बौद्ध मूर्ति में तेज, शांति और करुणा का भाव शिल्पकार की सजगता और हाथ की दक्षता का प्रदर्शन करता है। गांधार शैली की बौद्ध मूर्तियों में बुद्ध के हाथ में कमल, मंजुश्री उकेरा गया है। गांधार मूर्तिकला में निर्मित बुद्ध की मूर्तियाँ शिल्पकला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस मूर्ति की शरीर रचना विज्ञान पर विशेष ध्यान दिया गया है। बुद्ध का मुख मण्डल अण्डाकार रूप में उकेरा गया है, जिस पर ईरानी कला का प्रभाव दिखलाई पड़ता है। इस मूर्ति को बड़ी चादर से ढका गया है, चादर की सलवटें मोटी लकीरों से प्रदर्शित की गई हैं।

गान्धार शैली की मूर्तियों में बुद्ध की मूर्तियों को बनाते समय बौद्ध धर्म की परम्परा और विश्वासों के प्रतीकात्मक तथ्यों का निर्वाह हुआ है। सौन्दर्य पक्ष के साथ–साथ आध्यात्मिक भाव बोध को भी सहज रूप में उत्कीर्ण किया गया है। बुद्ध की मूर्तियों में अधखुले नेत्र, मुखमण्डल पर कान्ति और माधुर्य का भाव है तथा लम्बे कान आदि आध्यात्मिक भावों को प्रदर्शित करते हैं।

मथुरा कला

कुषाण के शासन काल में मूर्तिशिल्प का सर्वोत्तम स्थान मथुरा ही था, जिसकी शिल्पकला की उन्नति गांधार कला के समान ही हुई। मथुरा में चार धर्मों के मूर्तिशिल्प का विकास हुआ। यहाँ मिश्रित धर्म, हिन्दू, बौद्ध व जैन तथा लोकजीवन पर मूर्ति शिल्प निर्माण हुआ। इन सभी धर्मों के देवी देवताओं के मूर्ति शिल्प का निर्माण अलग–अलग काल में हुआ। दूसरी ई.पू. शताब्दी से छठी शताब्दी तक कुषाण युग के कला का केन्द्र मथुरा ही था। इस काल में भरहुत की लोक कला शैली व सांची कला की उन्नत शैली का सम्मिश्रण इस शैली में पाया जाता है, जिसके कारण इस कला में सांची कला की तरह चपटापन नहीं पाया जाता, किन्तु भरहुत कला के अलंकरण हूबहू प्रयुक्त किये गये हैं। इस प्रकार भरहुत की लोक शैली तथा सांची की उन्नत शैली साथ–साथ चलने के कारण इस काल में एक हो गई थी, जिसके फलस्वरूप मूर्ति शिल्प का चपटापन दृष्टिगोचर नहीं होता, लेकिन भरहुत के अलंकरण ज्यों के त्यों बनाये जाते रहे। इस कला की असंख्य मूर्तियाँ मथुरा में मिली हैं। संभवतः और मिलती रहेगी। ये सभी मूर्तियाँ सफेद चित्तिदार, लाल रवेदार पत्थर की बनी हुई हैं,जो फतहपुर सीकरी व राजस्थान के भरतपुर की खदानों से निकलता है।

मथुरा शिल्पकला पर गांधार की शिल्पकला के प्रभाव के बारे में अलग–अलग विद्वानों के

अलग–अलग मत हैं। स्मिथ व कनिंघम आदि विचारकों की राय में मथुरा की मूर्तिकला पर गान्धार मूर्तिकला का बिल्कुल ही प्रभाव नहीं पड़ा, बल्कि इस कला की पूर्णतया अनुकृति ही है। इसके विपरीत डॉ. कुमार स्वामी व हेवेल के मतानुसार यह शैली पूर्णतया भारतीय ही है। मथुरा मूर्तिकला पर जैन व शैशुनाग शैली के प्रभाव को भी स्वीकार किया है। फोगेल और वाल लोहिजेन को भी मथुरा मूर्तिकला में कलात्मक मूर्तियों के निर्माण में भक्ति परम्परा का आभास होता है, जिसमें कृष्ण भक्ति की प्रधानता के कारण उनकी पूजा अर्चना के प्रचलन का साक्षात दर्शन होता है। इसके फलस्वरूप मथुरा मूर्तिकला में बहुत वृद्धि हुई। मथुरा में एक बुद्ध मूर्ति अभिलेख सहित मिलने पर यह ज्ञात हुआ कि इस मूर्ति का निर्माण कनिष्क के शासनकाल में ही हुआ था, जिससे यह साबित होता है कि बुद्ध मूर्तियों का प्रथम निर्माण स्थल मथुरा ही है तथा सारनाथ, श्रावस्ती और कौशाम्बी से मथुरा शैली की तीन बुद्ध मूर्तियाँ शक सम्वत् की तिथियों सहित प्राप्त हुईं, जिससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सर्वप्रथम बुद्ध मूर्तियों का निर्माण स्थल मथुरा ही है। यद्यपि मथुरा मूर्तिकला की उन्नति गांधार मूर्तिकला की ही तरह हुई, लेकिन मथुरा के शिल्पकारों ने सांची, भरहुत तथा शैशुनाग की प्राचीन शैली में कुछ परिवर्तन कर अपनी ही शैली को जन्म दिया। भरहुत कला की तरह इनकी शैली में चपटापन नहीं है लेकिन अलंकरण ज्यों के त्यों बिना किसी परिवर्तन के बनाये गये हैं। मथुरा मूर्तिकला एवं गान्धार मूर्ति कला समकालीन थी लेकिन उन पर एक दूसरे का प्रभाव नहीं है। डॉ. फोगेल के मतानुसार मथुरा की मूर्तिकला में भावों की कल्पना तथा अलंकरण विशुद्ध भारतीय ही हैं। मथुरा मूर्तिकला शैशुनाग और जैन मूर्ति शिल्प से अवश्य ही प्रभावित है। सारनाथ की बुद्ध प्रतिमा भी मथुरा मूर्तिकला का ही निर्माण है, क्योंकि कुषाण का प्रतिनिधि महाक्षत्रप खरपल्लान सारनाथ में ही रहता था, अतः कनिष्क के शासनकाल के तीसरे वर्ष में भिक्षुओं ने उस बोधिसत्व की प्रतिमा की प्रतिष्ठा की थी। अधिक संख्या में मूर्तियाँ मिलने के कारण यह प्रतीत होता है कि मथुरा ही उनका केन्द्र था। मथुरा शैली की मूर्तियों में जो बुद्ध की खड़ी हुई मूर्ति मिली है, उसके सभी अंगों पर भारतीय कला की स्पष्ट छाप दिखाई पड़ती है। मथुरा मूर्तिकला को भारतीय कला न मानकर गांधार शैली की मानना भ्रम मात्र ही है। मथुरा शैली की समस्त मूर्तियाँ मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित हैं। मथुरा शैली की कुछ मूर्तियाँ तो अत्यन्त सुन्दर एवं प्रसिद्ध हैं। इनमें एक स्तंभ भी है जो विशेष उल्लेखनीय है, जिसके सामने वाले भाग पर एक स्त्री का चित्र उत्कीर्ण किया गया है जो सुन्दर है। मूर्ति के पीछे एक स्तंभ है जिसके परगहे पर चार पंखों वाली सिंह नारियां उत्कीर्ण की गई हैं, जिनके सिर पर खाली कटोरा बनाया गया है। बुद्ध मूर्ति भी अनुपम कला का उदाहरण है।

एक मूर्ति शिल्प में एक स्त्री को एक झरने के नीचे नहाते हुए दिखाया गया है, जिसमें नहाते समय पैदा होने वाले भाव प्रदर्शित किए गए हैं। यह मूर्ति अत्यन्त ही सुन्दर बन पड़ी है। एक अन्य स्तंभ पर एक स्त्री को तोते से प्रेम करते हुए दिखाया गया है।

मथुरा शैली की मूर्तिकला का भंडार अत्यन्त ही विशाल है। इसमें अनेकानेक विषयों की मूर्तियाँ गढ़ी गई हैं। एक बहुत बड़ी मूर्ति लक्ष्मीजी की उत्कीर्ण की गई है जो वर्तमान समय में लखनऊ संग्रहालय में रखी गई है। यह मूर्ति सजीव और सुन्दर बनी हुई है। एक मूर्ति प्रसाधिका की मिली है जिसके सिर पर फूलों और गजरों से भरी पेटी बनी हुई है। यह काशी कला भवन में संगृहीत है। मथुरा मूर्तिकला में नाग–नागिन मूर्तियाँ बहुतायत से प्राप्त हुई हैं। कुशाणकालीन शृंगी–ऋषि की एक अत्यन्त सुन्दर मूर्ति भी प्राप्त हुई है। शृंगी ऋषि ने महाराजा दशरथ का पुत्रेष्टि यज्ञ करवाया था। मथुरा मूर्तिकला में बुद्ध की मूर्ति आसन एवं स्थानक, दोनों मुद्राओं में बनाई गई है। इसमें स्थानक मुद्रा को यज्ञ प्रतिमाओं का आधार माना जा सकता है तथा आसन मुद्रा का आधार योगी मुद्रा को माना जा सकता है। भगवान बुद्ध

को पद्मासन मुद्रा में उत्कीर्ण किया गया है। जिनका दायाँ हाथ अभय मुद्रा में तथा बायाँ हाथ घुटने पर रखा हुआ दिखाया गया है। इसमें हथेली व पैर के तलवों पर धर्मचक्र व त्रिरत्न उत्कीर्ण हैं। बुद्ध के आसन की पीठ के नीचे सिंह बैठा हुआ दिखाया गया है तथा खड़ी हुई मूर्तियें के पैरों के बीच में सिंह बैठा है। मूर्तियों का भारी शरीर, चौड़ा मुख तथा चपटी नाक बनाई गई है तथा सिर पर बाल नहीं बनाए गए हैं। शरीर को मोटे व भारी वस्त्रों से सज्जित किया हुआ है। प्रभामण्डल बिल्कुल सादा बनाया गया है। आकृतियाँ सीधी एवं दृढ़ बनाई गई हैं। मथुरा मूर्ति कला में कुषाण शासनकाल की वेदिकाएँ अप्रतिम हैं जिन पर कुषाण शासनकाल के पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन के दृश्य अंकित किए हुए हैं। इससे उस समय की संस्कृति का ज्ञान प्राप्त होता है। इस काल में हिन्दू एवं जैन धर्म की मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं। इनमें राजाओं एवं यक्ष–यक्षिणियों की मूर्तियाँ हैं। इनमें अनेक देवी–देवताओं की काल्पनिक मूर्तियाँ भी हैं तथा विष्णु–शिव, शिवलिंग एवं कई मुखों के शिव की मूर्तियाँ भी हैं। राजाओं की मूर्तियों में कनिष्क, विमकदफ व चस्टन की मूर्तियाँ प्राप्त हुई है। इसके अतिरिक्त इन्द्र, सूर्य, कार्तिकेय, अग्नि, कामदेव, सरस्वती एवं लक्ष्मी की मूर्तियाँ भी मिली हैं, यक्ष–यक्षिणियों की आकृतियाँ स्नान करते हुए तथा उसके बाद वस्त्र पहनते हुए, बालों को संवारकर चोटी गूंथते हुए अंकित की गई हैं। इन सुन्दरियों को सौन्दर्यपूर्ण देह युक्त बनाया गया है। सारांशतः कहा जा सकता है कि मथुरा की मूर्तिकला अत्यन्त कला सम्पन्न एवं अद्वितीय है।

प्रमुख मूर्ति शिल्प

सूर्य मूर्ति

सूर्योपासना की ईरानी परम्परा का मथुरा महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा है। कुषाण काल से पहले भारतीय मूर्तिकला में सूर्य मूर्तियों का निर्माण मानव स्वरूप में किया जाता था, किन्तु कुषाण काल में ईरानी प्रभाव तथा कुषाणों के संरक्षण में सूर्य मूर्तियों का निर्माण नए ढंग से किया जाने लगा। मथुरा की मूर्तिकला में ईरानी परम्परा के आधार पर निर्मित सूर्य मूर्तियों में सूर्य को मानव रूप में उदीच्य वेश में लम्बा कोट, पायजामा और जूते धारण किए हुए दो अथवा चार घोड़ों से जुते हुए रथ पर सवार उकेरा गया है।

सूर्य के हाथों में तलवार और कमल उत्कीर्ण किया गया है। मथुरा मूर्तिकला की प्राचीन कुषाणकालीन सूर्य मूर्तियों में एक मूर्ति विशेष दर्शनीय है जिसमें सूर्य चार घोड़ों से जुते हुए एक चक्कर वाले रथ पर सवार है, जिसके दाएँ हाथ में एक कमल कलिका तथा बाएँ हाथ में एक छोटी–सी तलवार है। सूर्य मूर्ति के पृष्ठ भाग में दिव्य द्योतक प्रभामण्डल का निर्माण किया गया है और उन्होंने चोलक एवं जूते धारण किए हुए हैं। मथुरा कला में निर्मित इस सूर्य मूर्ति की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता सूर्य के कन्धों पर एक–एक पंख का निर्माण किया जाना है। शायद सूर्य के आकाश भ्रमण की कल्पना को साकार करना ही मूर्तिकार का उद्देश्य रहा होगा। इस बात की भी अधिक संभावना प्रतीत होती है कि पंखों के निर्माण करने में ईरानी कला परम्परा का प्रभाव रहा हो, क्योंकि उस काल में ईरानी कला में पंखयुक्त मूर्तियों का निर्माण किया जाता था। मथुरा मूर्ति कला में सूर्य की मूर्तियों में कोट, पायजामा, जूते व तलवार आदि तत्त्वों के प्रदर्शन से मथुरा मूर्ति कला पर विदेशी प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

परखम ग्राम की यक्ष मूर्ति

वर्तमान में अभी तक प्राप्त यक्ष मूर्तियों में सबसे अधिक प्रसिद्ध मूर्ति मथुरा और आगरा के बीच परखम ग्राम से प्राप्त हुई है, जो वर्तमान समय में मथुरा के संग्रहालय में सुरक्षित है। के. पी. जायसवाल ने सर्वप्रथम प्राप्त इस मूर्ति को शैशुनाग वंश के शासक अजातशत्रु का वास्तविक चित्रांकन बताया था। आरंभ में डॉ. कुमार स्वामी ने भी के. पी. जायसवाल की राय का अनुमोदन किया था किन्तु बाद में उन्होंने

परखम ग्राम की यक्ष मूर्ति

इस प्रतिमा को यक्ष प्रतिमा घोषित किया।

परखम ग्राम से प्राप्त यह यक्ष प्रतिमा लगभग आठ फीट आठ इंच ऊँचाई वाली भूरे बालुए पत्थर की बनी हुई है। इस पर चमकदार पालिश की हुई है। यह मूर्ति शिल्प वस्त्र धारण किए हुए मौर्यकालीन वेश–भूषा में उत्कीर्ण की गई है। इसके गले में ग्रैवेयक हार और कानों में कुण्डल हैं। मूर्ति के हाथ खण्डित होने के कारण यह अनुमान लगाना मुश्किल है कि मूर्ति के हाथ में क्या है या कैसी मुद्रा है ? इस मूर्ति की मुखाकृति और भाव–भंगिमाएँ आकर्षक एवं प्रभावशाली हैं।

इन सबके बावजूद वस्त्रों और आभूषणों की बनावट के कारण प्रदर्शन में भारीपन और बेजान मार्दव परिलक्षित होता है। मूर्ति का ऊपरी भाग सपाटपन लिए हुए है किन्तु नीचे का भाग स्वाभाविक एवं सजीव प्रतीत होता है। सम्पूर्ण शरीर गोलाई युक्त गठी काया के रूप में उत्कीर्ण किया हुआ है किन्तु मूर्ति का पिछला भाग बिल्कुल सपाट निर्मित किया गया है। मूर्तिकार ने इस मूर्ति को चारों तरफ से कोर कर उत्कीर्ण किया है किन्तु पिछले भाग का सपाटपन यह प्रदर्शित करता है कि मूर्तिकार का ध्येय सम्मुख दर्शन मात्र रहा था। इस विषय में यह संभावना भी व्यक्त की जा सकती है कि इस प्रकार की मूर्ति निर्माण शैली पर पूर्व युग की काष्ठ कला परम्परा का प्रभाव रहा हो।

अभ्यास प्रश्न

लघुउत्तरात्मक प्रश्न

1. गांधार मूर्तिकला में कैसा पत्थर प्रयोग में लिया गया ?
2. मथुरा मूर्तिकला में कैसा पत्थर प्रयोग में लिया गया ?
3. गांधार मूर्तिकला में किस धर्म से सम्बन्धित मूर्तियों का निर्माण हुआ ?
4. मथुरा मूर्तिशिल्प का पत्थर कहाँ–कहाँ प्राप्त होता है ?

वर्णनात्मक प्रश्न

1. कुषाणकाल की मूर्तिकला किस प्रकार की थी ?
2. गांधार शैली की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन करो।
3. गांधार शैली और मथुरा शैली में क्या अंतर है ?
4. मैत्रेय मूर्तिशिल्प का वर्णन करो।

गुप्तकाल

गुप्तकालीन मूर्तिकला भारतीय कला इतिहास में एक विशेष महत्त्व रखती है। गुप्तकालीन शिल्पियों ने भारतीय मूर्तिकला में एक नवीन अध्याय जोड़ा। इस काल में मूर्तिकला ने उत्कृष्ट आयाम प्राप्त किये। कला में शिल्प सौष्ठव, भाव प्रवणता तथा शैली की सुकुमारता ने भारतीय मूर्तिशिल्प का श्रेष्ठ समग्र रूप से प्रतिनिधित्व किया है। गुप्तकालीन मूर्तिशिल्प भारतीयता के श्रेष्ठ उदाहरण रहे हैं। वे राष्ट्रीय अनुभूतियों, आदर्शों, धार्मिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों तथा आध्यात्मिक ऊँचाइयों का सफल प्रतिनिधित्व करते हैं।

गुप्त शासनकाल को न केवल कला अपितु अपने राजनीतिक एवं ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भी ''स्वर्ण काल'' के रूप में इतिहासकारों ने स्वीकारा है। इस युग की मूर्तिकला के उन्नयन का कारण गुप्त शासकों का मूर्तिकला प्रेम तथा उनकी सहृदयता थी। इनके काल में हिन्दू धर्म से सम्बन्धित अनेक श्रेष्ठ मूर्तिशिल्पों का निर्माण तो हुआ ही, साथ ही बौद्ध एवं जैन धर्म से सम्बन्धित विषयों पर अद्भुत शिल्प का निर्माण भी अबाध रूप से चलता रहा। अधिकांश गुप्त शासक हिन्दू मतावलम्बी थे। वहीं समाज के अन्य वर्ग बौद्ध व जैन धर्म में आस्था रखते हुए राष्ट्र के विकास में कृत संकल्प थे। इन विविध मतों एवं सम्प्रदायों का समानान्तर रूप से महत्त्व होने के कारण गुप्तकाल में भी अनेक देवी देवताओं तथा आराध्य देवों की कल्पनाएँ मूर्तिकला के माध्यम से उद्भूत हुई।

ऐतिहासिक दृष्टि से गुप्तकाल 220 से 600 ई. तक का काल माना गया है। यह वह काल था जब कुषाण राज्य का पतन हो गया था तथा उसके उत्तराधिकारी क्षत्रप तक का खात्मा हो गया था। इसी बीच साकेत, प्रयाग प्रदेश में एक नई महाशक्ति का विस्तार हो रहा था। ईसा की चौथी शताब्दी के आरंभ में सुव्यवस्थित राज्य व्यवस्था एवं सुदृढ़ शासकीय व्यवस्था का शुभारंभ हुआ। 308 ई. में चन्द्रगुप्त नामक राजा ने वैशाली की लिच्छवी (तिरहुत) के गणतंत्र घराने की राजकुमारी से विवाह किया। यह सम्बन्ध गुप्त शासकों की समृद्धि का एक कारण भी बना। इसी सम्बन्ध के आधार पर उसको पाटलिपुत्र का शासन प्राप्त हुआ। तत्पश्चात बिहार तथा अवध प्रान्तों पर अधिकार प्राप्त किया। चन्द्रगुप्त (320–330 ई.) ने गुप्त वंश की नींव डाली। वह अत्यन्त कुशाग्र, वीर एवं श्रेष्ठ योद्धा था। उसने उत्तरी भारत में एक शक्तिशाली राज्य स्थापित किया।

चन्द्रगुप्त के पुत्र **समुद्रगुप्त** (330 से – 375 ई. लगभग तक) रणकौशल में अद्वितीय था। उसने भारतवर्ष विजय करने के लिए अश्वमेध यज्ञ किया। उसने न केवल भारतवर्ष अपितु अपने राज्य का विस्तार काबुल, तुखारिस्तान, सिंहल आदि सब भारतीय द्वीपों तक कर लिया। वह कुशल योद्धा होने के साथ–साथ कुशल शासक भी था। उसके राज्य में कला ने भी विकास के नवीन आयामों को छुआ क्योंकि समुद्रगुप्त स्वयं कला–प्रेमी था तथा कला का पोषक एवं संरक्षक भी था। समुद्रगुप्त वस्तुतः वह महान शासक था, जिसने समूचे भारत वर्ष को एक राष्ट्र के रूप में स्थापित किया। वह पराक्रमी, शूरवीर, अदम्य साहस व करुणा की मूर्ति था। महाकवि हरिषेण के अनुसार समुद्रगुप्त ''लिच्छबि दोहित्र'' था। उसके पराक्रम से उत्तराखण्ड, दक्षिणापथ एवं सीमान्त क्षेत्र के नरेशों ने उसके सम्मुख समर्पण कर दिया, परन्तु समुद्रगुप्त ने किसी राज्य पर बलात् आधिपत्य नहीं किया अपितु एक श्रेष्ठ शासन व्यवस्था को जन्म देकर भारत को एक सूत्र में पिरोया।हिमालय से दक्षिण सागर तक उसके चक्रवर्ती शासन के संरक्षण में उन्मुक्त राष्ट्रीय ध्वजा फहराती थी।

दिग्विजयी सम्राट समुद्रगुप्त के समय जो मुद्रा प्रचलित थी उस पर एक ओर अश्व एवं रानी का चित्र है और पीछे अश्वमेघ पराक्रम अंकित है तथा सम्राट की उपाधि – ''परम भागवत'' भी और वह सही अर्थों में परम वैष्णव था। सम्राट समुद्रगुप्तकालीन कला–वैभव, साहित्य, आध्यात्मिक उत्कर्ष एवं हिन्दू धर्म का कल्पनातीत वैभव इतिहासकारों के लिए आज भी एक खोज का विषय है।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (315–413 ई.) समुद्रगुप्त का पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य अपने पिता के पद्–चिह्नों पर चलता हुआ उनसे भी अधिक समृद्ध, सुसंस्कृत और पराक्रमी शासक सिद्ध हुआ। इस समय का काल भारतीय इतिहास में सर्वोच्च उन्नति का काल था, जिसने भारत के गौरव की पताका दसों दिशाओं में फहराई। इस सम्राट ने अपने राज्य से प्राणदण्ड उठा दिया था।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने भारत को अक्रान्ताओ से मुक्त कराया था। इस समय भारत शकों के आक्रमण से आक्रान्त होने जा रहा था। कश्मीर पर भी दस्युओं के राजा को सम्राट ने अपने पराक्रम से पराजित कर भारत व उत्तर सीमान्त से भगा दिया था। इसी शौर्य के कारण इनको ''शकारि'' नाम से भी विभूषित किया जाता है। इसी विजय के उपलक्ष्य में विक्रम संवत प्रचलित हुआ।

महाराजा विक्रमादित्य अपने न्याय के लिए अत्यन्त प्रख्यात थे। विक्रमादित्य के पश्चात उनके पुत्र कुमारगुप्त (415 से 455 ई.) ने शासन संभाला। इन्होंने चालीस वर्षों तक राज्य किया। इस समय भी गुप्तकालीन अद्वितीय शांति, समृद्धि एवं सांस्कृतिक तानाबाना, आध्यात्मिक अभिवृद्धि तथा आभा–वैभव स्थापित था। कुमारगुप्त ने एक महाविहार की स्थापना की जो आगे चलकर महान् विश्वविद्यालय में परिणत हुआ। कुमारगुप्त के उत्तर काल में उत्तर पश्चिमी सीमान्त पर हूणों के खूनी संघर्ष उभरने लगे। पुष्यमित्र से एक बार गुप्त सेना को हार का मुँह देखना पड़ा, परन्तु कुमारगुप्त के पुत्र स्कन्दगुप्त ने शासन संभाला।

स्कन्दगुप्त (455 से 494 ई.) ने भारत को दुर्दिन से बचाने के लिए लगातार संघर्ष किया, किन्तु हूण जाति के आक्रमणों से इस परम वैभवशाली वंश का प्रतापी सूर्य ढलने लगा। 528 ई. में जनता द्वारा समर्थित नेता प्रसिद्ध शासक यशोधर्म्म ने सत्ता संभाली तथा हूणों को देश से बाहर खदेड़ दिया।

गुप्तकालीन कला

गुप्तों का कला प्रेम और उत्कृष्ट रुचि इस समय प्रत्येक आभा–वृति से दृष्टिगोचर होती है। इस काल में यह कला इतने वैभव पर थी कि गुप्तों का शासन समाप्त होने पर भी सौ वर्षों तक अपने अद्वितीय सौन्दर्य की आभा बिखेरती रही। जहाँ तक कला का सम्बन्ध है, गुप्तकाल 330 से 600 ई. तक माना जाता है। हालांकि गुप्तकला वाकाटक मूर्तिकला की ही परम्परा में है परन्तु गुप्तों की कला रुचि इतनी सशक्त, सक्रिय एवं संस्कारित थी कि कलाकृति चाहे गुप्त शासन में हो या वाकाटक राज्य में, उस पर गुप्तकालीन आभा–वैशिष्ट्य स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

भारत के विभिन्न भागों में व्यापक पैमाने पर फैली हुई गुप्तकालीन मूर्ति सम्पदा इस बात की द्योतक है कि गुप्त शासकों का काल जहाँ प्रशासन एवं राजनीतिक गतिविधियों में महती रहा है वहीं सामान्य जीवन में शांति, बौद्धिक एवं कलात्मक सर्जना का युग भी था। भारत के प्रत्येक भू भाग पर प्राप्त मूर्तियों की संरचना शैली, भाव प्रवणता, सौन्दर्य की अभिव्यक्ति, कोमलता, रमणीयता आदि को समग्र दृष्टि से देखने पर गुप्तकालीन कला वैभव की श्रृंखलाबद्ध विशेषताएँ स्पष्ट होती जाती हैं।

कुछ विचारकों का मानना है कि गुप्तकालीन कलात्मक उन्नयन का कारण अन्य सभ्यताओं से सम्पर्क था। हालांकि भारत का व्यापारिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध पश्चिमी जगत से था और गुप्तकाल से पूर्व विदेशी कला की अनेक धाराएँ भारतीय कला में समाविष्ट हुईं, किन्तु गुप्तकालीन कला वैभव अपनी

निज निधि के कारण दैदीप्यमान रहा है। इससे पूर्व कुषाणकाल में गांधार कला का प्रभाव विदेशी माना जाता है परन्तु गुप्तकालीन मूर्तिकला भारतीय तत्त्वों से ओतप्रोत है। इस युग में गान्धार तथा मथुरा में व्याप्त क्रमशः यूनानी एवं ईरानी प्रभाव का अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ भारतीय कला मूल्यों के साथ समन्वय कर दिया गया था। यह गुप्तकालीन प्रतिभाशाली मूर्तिकारों की अनूठी सर्जना शक्ति है। उदाहरण स्वरूप बुद्ध मूर्तियों में प्रभामण्डल जहाँ गांधार कला की विशेषता रही वहीं गुप्तकाल में उस प्रभामण्डल को गोलाकार व अण्डाकार रूप में बेल—बूंटों की नक्काशियों द्वारा अलंकृत करके और भी वैभव पूर्ण रूप प्रदान कर दिया गया।

गुप्तकालीन मूर्तिकला की एक अन्य प्रमुख विशेषता यह रही है कि उसकी दैवीय मूर्तियों में आध्यात्मिक ओज अभिव्यक्त होता है। मूर्तियों से आध्यात्मिक रस बोध छलकता प्रतीत होता है। ऐसा अनुपम उदाहरण गुप्तकाल की कला में ही हो सकता है। शिल्पियों ने धार्मिक भावों को सरलीकृत रूप प्रदान कर मूर्तियों में आध्यात्मिक कांति पैदा कर समूचे वातावरण में शांति की छटा व्याप्त कर दी है। मथुरा, सुल्तानगंज और सारनाथ से मिली बुद्ध मूर्तियाँ इसका अच्छा उदाहरण हैं। इन मूर्तियों में आध्यात्मिक व भौतिक स्वरूप का अद्‌भुत संतुलन है। बुद्ध की गंभीर मुद्रा, प्रशान्त मुस्कुराहट एवं आध्यात्मिक ओज मूर्तिकला के उच्च आदर्श को प्रस्तुत करता है।

गुप्तकालीन मूर्तिकार शिल्प को श्रेष्ठ मापदण्डों के अनुसार उच्च स्तर पर स्थापित कर सके हैं। इस काल के मूर्तिकार मानव स्वरूप के बाह्य तथा आन्तरिक सौन्दर्य को अपनी कलात्मक प्रतिभा के द्वारा मूर्ति में उभारने में कुशल थे। मूर्तियों को सुरुचि पूर्ण संवारने का प्रयास भी इस युग की बड़ी देन है। इन्होंने मूर्तियों में नए प्रयोग कर सौन्दर्य को उच्च शिखर पर पहुँचा दिया। यथा—मोहक केश सज्जा, वस्त्रों को पारदर्शक बनाना, पुरुष मूर्तियों में कुंचित केश, (अलक जाल) नारी मूर्तियों में पारदर्शक वस्त्रों से झलकते सुकोमल अंग—प्रत्यंग अद्वितीय सौन्दर्य की छटा बिखेरते प्रतीत होते हैं। मूर्तियों में समविभक्तता, बनावट में कसावट, सूक्ष्म वस्त्र एवं नपे—तुले आभरण गुप्तकाल को कला की दृष्टि से बेजोड़ बना देते हैं।

गुप्तकालीन उत्तर भारतीय कला केन्द्रों में मथुरा एवं सारनाथ प्रमुख केन्द्र थे। आरंभ में मथुरा केन्द्र की मूर्तियाँ कुषाण शैली पर आधारित थीं, किन्तु कालान्तर में यह गुप्त शैली का बड़ा केन्द्र बन गया। उदाहरणतः कुषाणकालीन मूर्तियों में जहाँ प्रभामण्डल सादा रहता था वहीं गुप्तकाल में अलंकृत हो गया था। गुप्तकाल में अधोवस्त्र कमर से बंधा है तथा संघाटी दोनों कंधों को ढकती हुई घुटने तक फैली है। जबकि कुषाणकालीन मथुरा मूर्तियों में दाहिने कंधे पर संघाटी नहीं बनाई जाती थी, जबकि गुप्तकाल में दोनों कन्धों को ढका जाता था। इस सम्बन्ध में डॉ. वी. पी. सिंह का मत स्पष्ट है कि मूर्ति का बलिष्ठ शरीर एवं तनी हुई आकृति आदि से इसे मथुरा शैली की सीध में रखते हैं पर नासिका पर टिकी हुई मूर्ति की अधखुली आँखें, मुख पर आध्यात्मिक कांति, होठों पर करूणामयी मुस्कान गुप्तकाल की विशिष्ट देन है। इसी प्रकार देखें तो कुमारगुप्त के शासनकाल में निर्मित ''मनकुँवार की बुद्ध मूर्ति'' कुषाणकालीन मथुरा कला में निर्मित मूर्तियों की भांति उनका अनुकरण सा लगती है मूर्ति का अनुपात, वस्त्रों का गठन, मुख का भाव तथा अतिरंजित गोलाई कुषाणकालीन मूर्तियों के समान ही है। परन्तु इसकी तुलना सारनाथ की बुद्ध मूर्तियों से करें तो स्वतः ही कुषाणकाल से गुप्तकालीन कला की कला यात्रा का पता चल जाता है। सारनाथ की बुद्ध मूर्ति मनकुँवार की बुद्ध मूर्ति की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली, ओजस्वी, भावपूर्ण एवं सहज तथा सुन्दर है।

आरंभ में मथुरा में गुप्तकालीन मूर्तियों पर कुषाणकालीन कला का प्रभाव अवश्य रहा किन्तु

धीरे–धीरे गुप्तकालीन कला वैभव ने मथुरा की शैली पर अपना आधिपत्य जमा लिया तथा मथुरा भी गुप्तकालीन महत्त्वपूर्ण कला केन्द्र के रूप में स्थापित हुआ।

गुप्तकालीन मूर्ति निर्माण में दूसरा महत्त्वपूर्ण केन्द्र सारनाथ था। यहाँ अधिकतर बौद्ध मूर्तियों का ही निर्माण किया गया था। चूंकि भगवान बुद्ध ने यहाँ अपना प्रथम धर्मोपदेश दिया था, अतः सारनाथ पहले से ही एक बौद्ध केन्द्र के रूप में प्रचलित था किन्तु गुप्तकाल में आकर सारनाथ प्रतिष्ठित कला केन्द्र बन गया तथा एक सशक्त तथा ओजस्वी कला धारा यहां बहने लगी।

मूर्तियों की बनावट तथा उसके भावात्मक स्वरूप को देखें तो सारनाथ की मूर्तियों का मथुरा कला शैली से कोई सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। सारनाथ की मूर्तियां अपने अद्‌भुत वैभव के कारण अतुलनीय हैं, मूर्तियों में सुगढ़ सौन्दर्य तथा कुशल भावव्यंजना तथा अद्वितीय आध्यात्मिक ओज इतने सात्विक संतुलन में व्याप्त हैं कि गुप्तकालीन कला वैभव आज भी एक विशेष पहचान रखता है। इस केन्द्र की गुप्तकालीन मूर्तियां सुडोल और इकहरी काया को लिए हुए है तथा घनत्व के अतिरंजित बोझ से दबी हुई नहीं है, शारीरिक संरचना की दृष्टि से सारनाथ की मूर्तियाँ मथुरा के मूर्तिशिल्प से श्रेष्ठ मानी जाती हैं। इस शैली में मथुरा के समान शरीर में अनावश्यक भारीपन नहीं है तथा चेहरे को सुन्दर और मोहक बनाने के लिए उसे कुछ लम्बा बनाया गया है। बुद्ध मूर्तियों में शान्त रस की व्याप्ति यहाँ के शिल्पियों की कला साधना का द्योतक है चूंकि यहाँ अत्यधिक मात्रा में बुद्ध एवं बोधिसत्व मूर्तियाँ बनती थीं तथा बौद्ध मतानुसार शान्त भाव अनुकूल था, यही प्रभाव यहाँ की अन्य मूर्तियों पर भी परिलक्षित होता है। सारनाथ कला में भी अनेक मूर्तियाँ शिल्प की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। इस काल में धर्मचक्र प्रवर्तन की मुद्रा में निर्मित बुद्ध–मूर्ति अत्यन्त प्रसिद्ध है।

गुप्तकालीन कला केन्द्र में पाटलिपुत्र की गणना भी की जाती है। इस केन्द्र में प्रायः धातु मूर्तियों का ही निर्माण हुआ। साथ ही थोड़ी बहुत प्रस्तर मूर्तियाँ भी निर्मित हुई हैं। नालन्दा के उत्खनन से जो धातु मूर्तियाँ मिली हैं इतिहासकारों ने उन्हें गुप्तकालीन संज्ञा दी है, क्योंकि ये मूर्तियां सारनाथ के मूर्ति शिल्पों से संरचना व शैली की दृष्टि से अत्यधिक साम्यता रखती हैं। अतः विचारकों ने सारनाथ कला शैली का विस्तार पाटलिपुत्र तक दिखाने का प्रयास किया है। पाटलिपुत्र से निर्मित मूर्तियों में सुल्तानगंज (भागलपुर) से प्राप्त ताम्र निर्मित विशाल बुद्ध मूर्ति को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। इस मूर्ति के चेहरे पर शांतिपूर्ण मुस्कान, असीम करुणा तथा आध्यात्मिक भाव को बड़े ही मनोहारी रूप में पिरोया गया है। इसकी ऊँचाई साढ़े सात फीट की है। सुल्तानगंज की इस ताम्र मूर्ति और सारनाथ की बुद्ध मूर्ति की शिल्प संरचना एवं मापदण्डों में काफी समानता परिलक्षित होती है। ताम्र मूर्ति का गांभीर्य भाव सारनाथ के मूर्ति शिल्प से कहीं अधिक प्रबल दिखाई पड़ता है।

मध्य भारत के कई भागों, मालवा में भी मूर्ति शिल्प का निर्माण हुआ है। इनके अध्ययन से ज्ञात होता है कि गुप्तकालीन कला आदर्शों की पालना कमोबेश सभी गुप्तकालीन मूर्तियों में मिलती है। भारत कला भवन, काशी की कार्तिकेय मूर्ति, सारनाथ संग्रहालय की लोकेश्वर मूर्ति, मध्यप्रदेश का एक मुख लिंग, ग्वालियर संग्रहालय के कुछ मूर्ति शिल्प का कलात्मक विश्लेषण करें तो सारनाथ के गुप्तकालीन कला आदर्शों के अनुरूप ही जान पड़ते हैं हालांकि इन मूर्ति शिल्पों में सारनाथ जैसी शारीरिक संरचना एवं सुगढ़ सौन्दर्य प्राप्त नहीं हैं बल्कि भारीपन लिए हुए हैं किन्तु शैलीगत विशेषताओं में गुप्तकालीन प्रभाव कहीं कम–कहीं अधिक प्राप्त हो जाता है।

पूर्वी क्षेत्र में सुल्तानगंज, राजगिरि के पास मनियार मठ की मूर्तियाँ, तेजपुर के समीप दहपरबतिया की गंगा–यमुना की मूर्तियाँ इस क्षेत्र की कला का प्रतिनिधि शिल्प हैं। इनमें शारीरिक गठन सारनाथ से

प्राप्त जान पड़ता है, साथ ही भावात्मक अभिव्यंजना की सफल अभिव्यक्ति गुप्तकालीन कला आदर्शों की पालना के कारण संभव हो पाई है।

गुप्तकालीन मूर्ति परम्परा के गुजरात एवं राजस्थान में ही अनेक क्षेत्रों से मूर्ति शिल्प प्राप्त होते हैं। इनमें उत्तर भारतीय शिल्प का सहज रूप प्राप्त होता है। कोटा, आबानेरी, इडर राज्य के पास मिली मूर्तियों में उनकी वेशभूषा लोकशैली के रूप में समाविष्ट है। गुप्तकाल के अंतिम चरणों में निर्मित मूर्तियाँ कड़ापन तथा क्षीण रोपांकन लिए हुए हैं।

दक्षिण भारत के मूर्ति शिल्पों में मुम्बई के परेल ग्राम से प्राप्त शिव मूर्ति उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त बादामी गुफाओं में भी गुप्तकालीन प्रस्तर शिल्प हैं। इन मूर्तियों का शरीर विशाल तथा भारीपन लिए हुए है। भारत में अजन्ता, कन्हेरी, एहोल आदि कई स्थानों पर प्राप्त मंदिर एवं मूर्तिशिल्प गुप्त शैली से सम्बन्ध रखते हैं। इन विभिन्न स्थानों से प्राप्त मूर्तियों में आलंकारिक तत्त्वों, पारम्परिक अभिप्रायों, छोटी–छोटी आकृतियों के निरूपण में गुप्तकालीन लक्षणों की अभिव्यक्ति होती है। अनेक इतिहासकारों ने इसे कला निरूपण एवं शैली साम्यता के आधार पर गुप्तकला शैली से जोड़ने का प्रयास किया है जो शैली निरूपण में किसी हद तक ठीक नहीं है किन्तु ऐतिहासिक दृष्टिकोण से जोड़ने में अधिक सावधानी की आवश्यकता है।

मूर्तियाँ

गुप्तकाल में गुप्त शासकों ने हिन्दू धर्म को अपनाया था। अतः हिन्दू धर्मानुयायी गुप्त शासकों के काल में पौराणिक देवी–देवताओं से सम्बन्धित अनेक मूर्ति शिल्पों की रचना हुई। गुप्तकाल में जहाँ राजनीतिक स्थिरता एवं सांस्कृतिक वैभव का वातावरण था, ठीक वैसे ही धार्मिक सहिष्णुता का भी वातावरण था। इसके फलस्वरूप न केवल हिन्दू धर्म अपितु जैन व बौद्धों के धर्मानुसार भी शिल्प रचना हुई। आध्यात्मिक दिव्यता एवं शारीरिक अद्वितीय सौन्दर्य का अनूठा संगम इस काल की कला शैली में उभर कर आया। आत्मा एवं शरीर का अनूठा संगम शिल्पकारों की दक्षता का प्रतीक है, मानो वे शरीर पर आत्मा की विजय स्थापित करना चाहते थे। इसका तात्पर्य यह नहीं लगाया जाना चाहिए कि शिल्पकार मात्र आध्यात्मिक दृष्टिकोण को ही सर्वोपरि मानते थे, उन्होंने शिल्प व शैली को भी उतना ही महत्त्व दिया। इसलिए उनके शिल्प कलात्मक दृष्टि से कला इतिहास में अपना विशेष स्थान रखते हैं।

हिन्दू मूर्तियाँ

गुप्त शासक हिन्दू धर्म के उपासक थे। उनका व्यक्तिगत धर्म वैष्णव था। उनकी उपाधि ''परम भागवत'' थी। उनकी शासन मुद्राओं पर शंख, चक्र, गदा, पद्म, लक्ष्मी आदि अनेक वैष्णव प्रतीक चिह्नों का उपयोग होता था। स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ अभिलेख तथा बुद्धगुप्त का एरण स्तंभ शिव विष्णु की स्तुति से ही प्रारंभ होता है। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने विष्णुपद नामक पर्वत पर विष्णु ध्वज की स्थापना की।

मध्य भारत में भेलसा के समीप उदयगिरी गुफा की दीवार पर विष्णु की मूर्ति उत्कीर्ण है। चतुर्भुज स्वरूप में विष्णु गदा, देवी एवं चक्र पुरुष पर हाथ रखे हुए हैं। इस विष्णु मूर्ति में उत्तर भारतीय शिल्पकला का पूर्ण निर्वाह हुआ है। गुप्तकालीन कला शैली में विष्णु को स्थानक आसन, शयन मुद्राओं में द्विभुज, चतुर्भुज एवं अष्टभुज रूप में प्रयुक्त किया गया है। देवगढ़ में दशावतार मंदिर में अनन्तशायी विष्णुमूर्ति में कुण्डल, मुकुट, वनमाला, हार तथा केपुर आदि अलंकरणों से भगवान विष्णु के स्वरूप को मोहक रूप प्रदान किया गया है। दोनों तरफ शिव एवं इन्द्र को दर्शाया गया है तथा नाभि से निकले कमल पर चतुर्मुखी बह्माजी आसीन हैं तथा विष्णु की पत्नी लक्ष्मी उनके चरणों को दबा रही हैं। शिल्प की दृष्टि

अनन्तशायी विष्णुमूर्ति, देवगढ

से यह उत्कीर्ण मूर्ति बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, इसे संरचना शैली, भावाभिव्यक्ति तथा पौराणिक परम्परा की अभिव्यक्ति की दृष्टि से एक सफल शिल्प माना जा सकता है। मानवीय शरीर रचना में आध्यात्मिक भावों का उद्दीपन सहज रूप में आकर्षक बना है। विष्णु की मानवीय मूर्तियों की बजाय उनके विभिन्न अवतार रूपों के मूर्तिशिल्प अधिक बने हैं जैसे – वराह अवतार, नृसिंह अवतार, वामन अवतार आदि। वराह अवतार मूर्तियों में वराह के साथ विष्णु को नृवराह के रूप में भी बनाया गया है।

उदयगिरी का "नृवराह मूर्ति" उल्लेखनीय शिल्प है। इसमें भगवान विष्णु आदिशेष के ऊपर पाँव रखकर खड़े हुए हैं तथा कन्धे पर नारी रूप में पृथ्वी को उठाए हुए हैं। वराह का शरीर अत्यन्त गठीला तथा शक्ति व उत्साह से परिपूर्ण है। नृवराह अपने मुख को ऊपर उठाकर पृथ्वी की तरफ देख रहे हैं। वराह का ऊपर उठा हुआ मुख गौरव तथा आत्मविश्वास से भरा हुआ है। इस मूर्ति को प्रतीकात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इतिहासकार इस शिल्प का संबंध चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की भौजाई ध्रुव स्वामिनी का शकों से उद्धार की घटना से जोड़ते हैं। इस मूर्ति में उद्धारक का तेज और शक्ति स्पष्ट रूप से झलकती है। भगवान विष्णु ने तमक कर पाताल मग्न पृथ्वी को सहसा ही फूल की तरह अपनी दाढ़ी पर उठा लिया है और वे डटे हुए खड़े हैं।

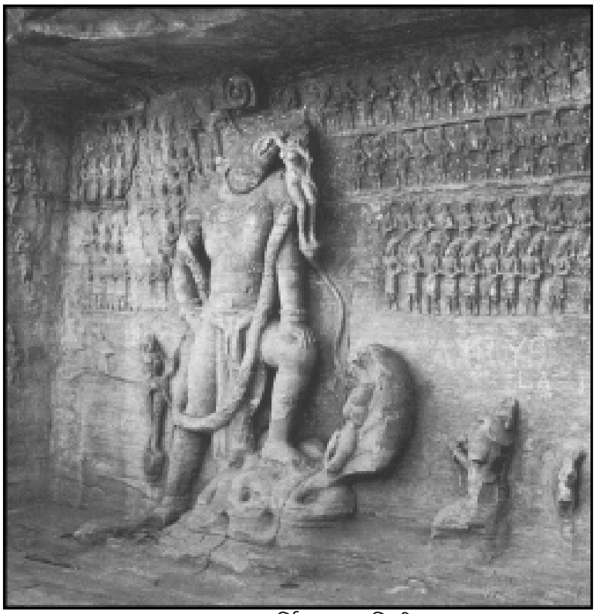

नृवराह मूर्ति, उदयगिरी

विष्णु के पूर्व वराह रूप की भी एक मूर्ति विशाल रूप में ऐरण से प्राप्त हुई है। पशु रूप में वराह की यह मूर्ति शारीरिक गठन एवं अधिक ओजस्वी स्वरूप को लिए हुए है तथा घनत्व की दृष्टि से भरी–पूरी है। किन्तु पैरों की बनावट तथा उनका मोटापन और भारीपन कलात्मक सौन्दर्य को बाधित करता सा लगता है। इसी के साथ वराह के दांतों से पकड़ाकर लटकती पृथ्वी के अंकन में नीचे की तरफ झुकाव से मूर्ति में एक गति उत्पन्न हो गई है।

विष्णु के नृसिंह अवतार की भी एक मूर्ति देवगढ़ मंदिर से प्राप्त हुई है। शरीर रूप में मानव शरीर दिखाया गया है तथा

नृवराह मूर्ति, ऐरण

मस्तक को सिंह रूप में। शंख, चक्र और गदाधारी विष्णु आसन पर बैठे हैं।

वामन अवतार के रूप में भगवान विष्णु को वामन एवं त्रिविक्रम दोनों ही रूपों की मूर्तियाँ गुप्तकालीन शिल्पकारों द्वारा बनाई गई हैं। प्रयाग संग्रहालय में पौराणिक कथा के अनुरूप बौने ब्रह्मचारी के रूप में वामन मूर्ति संगृहीत है जिसमें बौने ब्रह्मचारी की सरल रूप की सहज अभिव्यक्ति हुई है। इसी प्रकार मथुरा संग्रहालय में संगृहीत त्रिविक्रम मूर्तियाँ प्राप्त हैं। राम और कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित मूर्तियों का निर्माण भी गुप्तकालीन शिल्पियों में रुचिकर विषय बना रहा है। देवगढ़ के दशावतार मंदिर के राम के द्वारा अहल्या का उद्धार, राम वनवास, अगस्त्य आश्रम के राम कथाचित्र तथा रामायण सम्बन्धी अनेक कथाचित्र घटना के आधार पर निर्मित किए गए हैं। राम सम्बन्धी मूर्तियों के अतिरिक्त देवगढ़ मंदिर में कृष्ण जन्म से भी सम्बन्धित अनेक मूर्तियों का निर्माण शिल्पकारों ने किया है, जैसे वासुदेव द्वारा कृष्ण को गोकुल ले जाते हुए, कालिया नाग का दमन करते हुए एवं गोवर्धनधारी कृष्ण की मूर्ति का निर्माण इस मंदिर में किया गया है।

राम और कृष्ण के जीवन पर आधारित मूर्ति शिल्प के अतिरिक्त शिव मूर्तियों में शिव का लिंग स्वरूप तथा मानवीय स्वरूप दोनों का ही निर्माण गुप्तकालीन मूर्तिशिल्प में हुआ है। खोह तथा भूपरा से मिली हुई एक मुखी लिंग रूप मूर्तियों के सिर पर जटा–जूट है जिस पर अर्ध चन्द्राकार है। मस्तिष्क पर तृतीय नेत्र बनाया गया है। इसी प्रकार करमदण्डा के शिवलिंग का निचला भाग अष्टकोणीय बनाया गया है, परन्तु ऊपरी भाग गोलाई लिए हुए है। लिंग स्वरूप के अतिरिक्त मानवीय स्वरूप के अन्तर्गत अर्द्धनारीश्वर रूप में प्रकृति के आध्यात्मिक स्वरूप को परिलक्षित किया गया है। मथुरा संग्रहालय में दो मूर्तियों में शिव इसी अर्द्धनारीश्वर रूप को प्राप्त हैं। इन मूर्तियों में दाहिना भाग पुरुष तथा बायाँ भाग नारी रूप में निर्मित हैं। पुरुष के मस्तिष्क पर जटा–जूट तथा नारी भाग में स्तन का प्रदर्शन मुख्य रूप में दर्शाया गया है। राष्ट्रीय संग्रहालय में त्रिदिशा से प्राप्त शिव के हरिहर मूर्ति शिल्प के बाँए विष्णु भाग से विष्णु के आयुधों का प्रदर्शन हुआ है, दाहिने भाग में यज्ञोपवीत, जटा तथा मृग चर्म दिखाया गया है।

एक मुखी लिंग, उदयगिरी

हिन्दुओं के सर्वाधिक लोकप्रिय मांगलिक देव गणेश की मूर्तियाँ भी गुप्तकालीन मूर्तिकारों ने बनाई है। इनमें कला परम्पराओं तथा कथानकों का सम्यक अंकन हुआ है। मथुरा संग्रहालय में भगवान गणेश को लम्बोदर रूप में दिखाया गया है। उनके बायें हाथ में मोदक का प्रदर्शन श्री गणेश की मोदकप्रियता को प्राचीन मान्यता दिलाता प्रतीत होता है। गजमस्तक गणेश भारतीय जीवन में सर्वमान्य रूप में हैं जिसको बड़ी दक्षता से

शिल्पकारों ने दर्शाया है। अपनी पत्नी विघ्नेश्वरी के साथ आलिंगनबद्ध गणेश की भूमरा से प्राप्त मूर्ति रागात्मकता का मनोरम भाव लिए हुए है। इसी प्रकार मथुरा की कला में बनी हुई मूर्ति को, जिसमें नृत्यरत गणेश कमल पुष्प पर खड़े हैं, अत्यन्त रोचक ढंग से निर्मित किया गया है। कमल पुष्प पर नृत्य की मुद्रा में खड़े गणेश की यह मूर्ति रोचक ही नहीं अपितु कलात्मक पक्ष में भी अधिक प्रभावशाली प्रतीत होती है।

गणेश के समान ही कार्तिकेय को भी गुप्तकालीन मूर्तिशिल्प में विशेष महत्त्व मिला है। कार्तिकेय की मान्यता एक सामरिक देवता के रूप में थी। मथुरा तथा गांधार कला में भी इनकी मूर्तियों का निर्माण होता रहा है। अतः गुप्तकालीन कार्तिकेय मूर्तियाँ भी अपनी पूर्ववर्त्ती परम्परा के आधार पर निर्मित हुईं, किन्तु इनका कलात्मक पक्ष चिरपरिचित गुप्तकालीन कला का प्रभाव लिए हुए है तथा ये अधिक प्रभावशाली ढंग से निर्मित हुई हैं। कार्तिकेय के वाहन के सामने मयूर को भी विशेष महत्त्व मूर्तिकारों ने दिया है। कार्तिकेय मूर्ति में शिल्पगत सौन्दर्य के प्रति शिल्पी का विशेष आग्रह रहा है। संयोजन की सुघड़ता से देवता प्रभावशाली रूप में निर्मित हुए हैं।

गुप्तकालीन शिल्प संपदा में सूर्य मूर्तियों का भी स्थान रहा है हालांकि पूर्व में भी कुषाणकाल में सूर्य मूर्तियों का निर्माण होता रहा है जो ईरानी प्रभाव लिए हुए माना जाता है। लम्बा कोट, सलवार एवं जूते धारण की हुईं मूर्तियाँ प्राप्त हैं। परन्तु गुप्तकाल में आकर विदेशी तत्त्वों के प्रभाव को सूक्ष्म कर भारतीय तत्त्वों का समावेश हो गया तथा गुप्तकालीन सूर्य मूर्तियाँ भारतीय मूल्यों एवं शैलीगत तत्त्वों के साथ दिखाई पड़ती हैं। गुप्तकाल में सूर्य मूर्तियों में धोती, एकावर्ली, कुंडल, मुकुट, वनमाला तथा हाथों में कमल धारण किये हुए दण्डों एवं पिंगल के साथ प्रदर्शित किया गया है। रथ पर बैठी मूर्तियों में दोनों ही हाथ कमल से युक्त हैं और पार्श्व में उषा, प्रत्युषा, राज्ञी और निमुक्षा नामक देवियाँ तथा सारथी अरुण को भी दिखाया गया है।

भूमरा से प्राप्त मूर्ति में प्रभा मण्डल को वृत्ताकार तथा कलात्मक ढंग से सूर्य के दोनों हाथों को प्रस्तुत कर रोचक दिव्यता को परिभाषित किया गया है। सूर्य के दोनों हाथों में कमल गुच्छ को बनाया गया है। रथ पर आगे सारथी अरुण तथा पार्श्व में दण्डी एवं पिंगल को बनाया गया है। इस मूर्ति में सूर्य का अधोभाग भारतीय परिधान धोती को दिखाया गया है। सूर्य के आभूषणों में भारतीय परम्परानुसार ही किरीट, मुकुट, कुण्डल, हार इत्यादि को शामिल किया गया है। सुसज्जित सूर्य की आकृति के सौन्दर्य की सहज ही अभिव्यक्ति हुई है। इसी प्रकार बंगाल के नियामतपुर, कुमारपुर तथा खैरखानेह में प्राप्त तथा काबुल संग्रहालय में सुरक्षित सूर्य मूर्तियों में भी गुप्तकालीन शिल्प के दिग्दर्शन किए जा सकते हैं।

हिन्दू धर्म से सम्बन्धित जहाँ देवताओं के मूर्ति शिल्प की सर्जना गुप्तकालीन शिल्प परम्परा में हुई, वहीं हिन्दू देवियों की मूर्तियों के भी नारी रूप सौन्दर्य का लावण्यमय अंकन किया गया है। देवी मूर्तियों में लक्ष्मी, दुर्गा के विभिन्न रूपों का अंकन इस शिल्प परम्परा में किया गया है। देवगढ़ की अनन्तशायी विष्णु मूर्ति में विष्णु की सहचरी के रूप में लक्ष्मी को अंकित किया गया है।

मथुरा में मिली दुर्गा की मूर्ति ममत्व का भाव लिए है, जिसमें देवी स्कन्द कार्तिकेय को लिए हुए है। उदयगिरी की गुफाओं में देवी की मूर्ति में दुर्गा का महिषासुर मर्दिनी रूप है। महिष का वध करते हुए दुर्गा क्रोध से भरी हुई है। इस शिल्प के अंग प्रत्यंग की संरचना में उचित तनाव से मूर्ति में आदेश व स्फूर्ति की सफल अभिव्यक्ति हुई है। भूमदा में भी दुर्गा की महिष का दमन करती हुई ऐसी ही मूर्ति प्राप्त हुई है।

बौद्ध मूर्तियाँ

कला इतिहास में गुप्तकाल अपने कला वैभव के लिए एक महत्त्वपूर्ण काल है और इस काल को बुद्ध मूर्तियों के निर्माण का स्वर्णकाल माना जा सकता है। बुद्ध की अनेक मुद्राओं को यथा–वरद, अभय ध्यान, भूमि स्पर्श और धर्म चक्र प्रवर्तन आदि को मूर्तियों का आधार माना गया है। शिल्पकार ने अपनी कलात्मक आभा से बड़ा मनोहारी आध्यात्मिक ओज इन मूर्तियों में पिरोया है। बुद्ध के प्रभा मण्डल को सुन्दर अलंकरण से सजाया गया है। वहीं उनके मुख मण्डल पर शांति एवं आध्यात्मिक दिव्यता को बखूबी अभिव्यक्त किया गया है। बुद्ध के वस्त्रों की चुन्नटें पतली व कलापूर्ण बनाई गई हैं तथा बुद्ध के सिर को घुंघराले बालों से ढका गया है। बुद्ध एवं बोधिसत्व मूर्तियों द्वारा गुप्तकाल की एक विशेष पहचान स्थापित हुई है।

मथुरा से प्राप्त गुप्तकाल के आरंभिक अवस्था के मूर्ति शिल्पों में कुषाणयुगीन कला परम्परा का किंचित प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। किन्तु कालान्तर में गुप्तकालीन निजत्व को प्राप्त कर एक विशिष्ट गुप्त शैली के चित्र बनने लगे थे। कुमार गुप्त की मनकुँवार में मिली बुद्ध मूर्ति अभय मुद्रा में है तथा सिंहासन पर विराजमान है। मूर्ति का ऊपर का भाग वस्त्र रहित है, परन्तु कमर से नीचे और घुटने से नीचे तक अधोवस्त्र दिखाया गया है। सिर मुण्डित अवस्था में बनाया गया है। इस मूर्ति की पीठिका के अग्रकोर पर मध्य में चक्र बना हुआ है और जिसके दोनों ओर एक–एक ध्यानस्थ पुरुष आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। हालांकि इस मूर्ति का निर्माण गुप्तकालीन मथुरा की कला में ही हुआ है तथापि इसमें कुषाण कला परम्परा का प्रभाव भी दिखाई पड़ता है।

मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित बुद्ध की एक मूर्ति बड़ी अनुपम है। यह मूर्ति खड़ी हुई अवस्था में है इसमें बुद्ध के आभा मण्डल को बड़ी सुन्दरता के साथ अलंकृत किया गया है। मूर्ति के मुख पर गजब का भाव गाम्भीर्य तथा चिन्तन का भाव दिखाई पड़ता है। लाल पत्थर की यह मूर्ति अपनी स्वाभाविक अवस्था में प्रदर्शित हुई है, जिसमें बड़ी बारीकी एवं सफाई से हाथ–पाँवों तथा अंगुलियों को बनाया गया है। मूर्ति के मुख पर विशेष भाव बोध अनुपम है। शांति, करुणा तथा अध्यात्म का सुन्दर संयोग मुख मण्डल पर दिखाई देता है। वस्त्र अत्यन्त महीन बनाया गया है जिसमें एक–एक तन्तु को गिना जा सकता है। वस्त्र की महीनता की वजह से शरीर का प्रत्येक अंग दूर से ही स्पष्ट जान पड़ता है। वस्त्र की सिकुडन भी अपने आप में विस्मयकारी है। पत्थर की मूर्तियों में वस्त्र की सरंचना तथा उनका स्वभाविक तनाव व स्वाभाविक रेखाकरण बहुत कम दिखाई पड़ता है, जिसमें यह एक खड़ी मूर्ति है।

सारनाथ से प्राप्त बुद्ध की मूर्ति पद्मासन रूप में है तथा धर्म चक्र प्रवर्तन की मुद्रा में है। इस मूर्ति का प्रदर्शन भाव व शैली की दृष्टि से इतना उत्कृष्ट है कि इसे गुप्तकाल की सर्वोच्च कृति माना जा सकता है। भगवान बुद्ध के चेहरे पर असीम शांति के भाव परिलक्षित हैं तथा आध्यात्मिक कांति भी समुचित व्याप्त है। मूर्ति आवश्यक घनत्व तथा भारीपन से मुक्त तथा कांतिमय शरीर रचना को लिए हुए है। मूर्ति में एक लयबद्ध योजना है जो मूर्ति को रुचिपूर्ण बना देती है। लावण्य की स्निग्घता भी सौन्दर्य की सहज अभिव्यक्ति का आधार बनी है। मूर्ति में गुप्तकालीन दक्षिणावर्त केश, उष्णीष बना है तथा पार्श्व में बड़ा मनोहारी अलंकृत प्रभामण्डल बना हुआ है।

प्रभामण्डल के ऊपरी भाग में दोनों ओर नारी–मूर्तियाँ हैं जो हाथों में पुष्प पात्र लिए हुए है जो आलीढ़ एवं प्रत्यालीढ़ अवस्था में बनी हैं। पीठिका की ओर अग्र भाग के मध्य में धर्म चक्र बना हुआ है तथा उसके दोनों ओर दो मृग आकृतियाँ तथा पूजा करती मानवाकृतियाँ बनाई गई है। यह मूर्ति बुद्ध के समूचे रूप सौन्दर्य से सराबोर है तथा मुख पर शांति व आध्यात्मिक कांति व्याप्त है।

बुद्ध मूर्तियों की निर्माण परम्परा में एक अन्य मूर्ति जो बरमिंघम संग्रहालय में है वह गुप्तकालीन ताम्र मूर्ति है, जो सुल्तानगंज से प्राप्त हुई है। इस मूर्ति की लम्बाई साढ़े सात फीट है तथा मूर्ति में गुप्तकालीन एकलयता सफल रूप में व्यक्त हुई है। अभय मुद्रा में खड़ी इस मूर्ति के वस्त्रों को पारदर्शक रूप में बनाया गया है जिससे अंगों की कोमलता मोहक छवि प्रस्तुत करती है। कंधे, कूल्हे, वस्त्रों तथा उदर की गोलाई व गहराई स्वस्थ एवं कोमल मानवीय शरीर रचना को प्रस्तुत करती है। अंगुलियों के नुकीले पोर जरा सा पीछे की तरफ मुड़े हैं। शिल्पकार ने अतीव मनोयोग से इस शिल्प रचना में बुद्ध के व्यक्तित्व में गम्भीरता एवं शिष्ट गरिमा को स्थापित किया है।

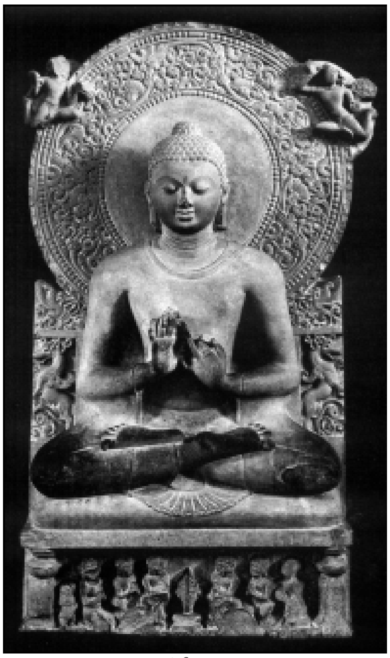

बुद्ध मूर्ति, सारनाथ

बुद्ध मूर्ति, सुल्तानगंज

जैन मूर्तियाँ

गुप्तकाल धार्मिक दृष्टि से सहिष्णुता का काल था। हिन्दू, बौद्ध तथा जैन सभी मूर्तियों की रचना इस काल में पूर्ण स्वतंत्रता के साथ हुई है। जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ भी शिल्प की दृष्टि से उत्तम है। इस काल की जिन–मूर्तियों में विभिन्न मुद्राओं को प्रस्तुत किया गया है यथा–नग्न मुद्रा, अजान बाहु, ध्यान मुद्रा इत्यादि। इन मूर्तियों में हथेली एवं तलवों पर धर्म चक्र का चिह्न, भौहों के मध्य उर्णा (रोमगुच्छ) आदि कई युगीन परम्पराएँ इन मूर्तियों में भी विद्यमान हैं। जिन मूर्तियों में उष्णीष कुछ अधिक सुन्दर तथा घुंघरालेपन को लिए हुए है, प्रभामण्डल में विशेष सजावट देखी जा सकती है। धर्म चक्र का उत्कीर्णन भी पूर्ववत किया गया है।

गुप्तकालीन मथुरा शैली में निर्मित तीर्थंकरों के मूर्ति शिल्प में अष्ट ग्रहों, मालाधारी गंधर्वों तथा नेमीनाथ के साथ वासुदेव, बलदेव आदि की मूर्तियाँ भी बनाई गई हैं। उत्कृष्टता की दृष्टि से चौसां (बिहार) से मिली आदिनाथ की मूर्ति विशेष उल्लेखनीय है। यह धातु शिल्प है तथा जैन धार्मिक भावना के अनुकूल इस मूर्ति के अंग – प्रत्यंगों को ढाला गया है। मूर्ति में अलंकरण विशेष रुचि के साथ किया गया है। खड़गासन मुद्रा में खड़ी इस मूर्ति के केश विन्यास तथा अलंकृत प्रभामण्डल में शिल्पकार ने अपनी दक्षता का परिचय दिया है।

अन्य जैन मूर्तियाँ जो विदिशा के संग्रहालय में सुरक्षित है उन पर अभिलेख भी बने हैं। ये रामगुप्त के शासनकाल में बनी हैं। इन मूर्तियों की पीठिका पर कुषाणकालीन मूर्तियों की तरह सिंह का अंकन भी हुआ है जो कुषाणकालीन शिल्पकला के प्रभाव को स्थाई रखते हैं तथा अंग विन्यास तथा प्रभा मण्डल

की बनावट गुप्तकालीन प्रभाव को प्रदर्शित करती है। इसी प्रकार जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ राजगृह, देवगढ़, बेसनगर, बूढ़ी चंदेरी आदि स्थानों पर मिलती हैं, जिनमें गुप्तकालीन कला शिल्प के दर्शन होते हैं। उत्तर प्रदेश के देवरिया जनपद के कहाँव से प्राप्त स्तंभ के ऊपरी भाग में चार जिन–मूर्तियों को उत्कीर्ण किया गया है और नीचे पार्श्वनाथ तीर्थंकर को बनाया गया है।

गुप्तकालीन तीर्थंकर मूर्तियाँ जैन धर्म की भावनानुसार एकाग्रता का भाव लिए है, साथ ही गुप्तकालीन शिल्प वैभव की समृद्ध परम्परा का निर्वहन भी करती हैं। गुप्तकालीन कला वैभव में स्वतंत्र मूर्तियों का निर्माण तो कला समीक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान रखता ही है साथ ही फलक अंकन में इन मृण मूर्तियों में विशेष कला–प्रतिभा उजागर होती हैं। इन पाषाण फलकों पर शिल्पकार ने कुछ अधिक उदारता से कला योजना का उपयोग कर कृतियों का सृजन किया है। बुद्ध के जीवन की प्रमुख घटनाओं, अनेक पौराणिक आख्यानों, नक्काशी तथा अलंकरण रूप में पशु आकृतियों को बड़े ही मनोहारी संयोजन के द्वारा उत्कीर्ण किया गया है, जिनमें कला सिद्धान्तों की भरपूर पालना की गई है। समूची घटना में एक जीवन प्रवाह देखने को मिलता है। बुद्ध के जीवन की अनेक घटनाएँ जैसे जन्म, धर्म चक्र प्रवर्तन, सम्बोधि तथा महानिर्वाण सम्बन्धित सुन्दर उत्कीर्णन सारनाथ संग्रहालय में प्राप्त है। पौराणिक दृश्यों में मुंगेर बिहार के पाषाण स्तंभ के पट्ट पर महाभारत के अर्जुन से सम्बन्धित अनेक घटनाएँ उत्कीर्ण हैं। देवगढ़ के दशावतार मंदिर की दीवार पर रामकृष्ण के जीवन के अनेक सुन्दर दृश्य पट्ट पर उत्कीर्ण हैं जो कि श्रेष्ठ कला उदाहरणों में माने जाते हैं। स्मिथ ने इन को भारतीय मूर्तिकला का सर्वोत्तम उदाहरण माना है। इसी प्रकार उदयगिरी गुफा के द्वार पर अमृत मंथन का दृश्य, पहाड़पुर मंदिर की दीवार पर कृष्ण, महाभारत एवं रामायण सम्बन्धित अनेक सुन्दर घटनाएँ उत्कीर्ण हैं जो कला–जगत की अतुलनीय कला–निधि है।

गुप्तकाल में बनी मृण मूर्तियाँ भी भारत के अनेक भू–भागों से प्राप्त होती हैं। इस काल में बड़ी–बड़ी मृण मूर्तियाँ और पकाई मिट्टी के फलक भी बनते थे जिनका सौन्दर्य और सजीवता पाषाण शिल्प की भांति ही गरिमापूर्ण था। राजगृह से प्राप्त मनियार मठ की नागिन मूर्ति शिल्प का उत्कृष्ट उदाहरण है। मीरा तथा सेहत–महेत से अनेक मृण मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। जिनका शिल्प विधान सुरुचि पूर्ण है। इन मृण मूर्तियों में प्रादेशिकता तथा शारीरिक गठन को सहज ही अनुभूत किया जा सकता है। इन मूर्तियों का कलात्मक सौन्दर्य अन्यत्र दुर्लभ है।

गुप्तकाल में सुन्दर नक्काशीदार ईंटें तथा टाईलें भी बनती थीं। ये ईंटें व टाइलें सांचे में ढाली जाती थीं अथवा औसार से मठारी जाती थी और सम्भवतः गीली अवस्था में ही तराशी जाती थी तत्पश्चात् पकाई जाती थी। सारनाथ की खुदाई में इस प्रकार का एक पंचरत्न स्तूप निकला था जिसमें बड़ी सुन्दर जालियाँ, फूल कमल और खम्भे प्राप्त हुए थे।

मौर्य काल के बाद विशालकाय लाट बनने की परम्परा लुप्तप्रायः हो गई थी किन्तु स्कन्दगुप्त ने अपनी विजय के पश्चात् एक विशालकाय लाट खड़ी की, जो काशी के पास सैदपुर कस्बे के निकट भीतरी गाँव में है। किन्तु सबसे आश्चर्यजनक लाट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा बनाया गया लोहे का लाट है जो आज '' दिल्ली की किल्ली'' के नाम से जाना जाता है, जो कुतुबमीनार के पास महरौली में खड़ा है। यह तेईस फुट आठ इंच का है। सबसे ऊपर चौकी पर गरुड़ की मूर्ति थी जो विक्षत है, इसकी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सम्पूर्ण लोहा बिना मुरचे का है।

गुप्तों के स्वर्ण सिक्के भी मूर्ति कला के श्रेष्ठ उदाहरण हैं, जिनमें चन्द्रगुप्त का उसकी रानी कुमार देवी के साथ, समुद्रगुप्त का बीन बजाते तथा आश्वमेधिक, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का सिंह के साथ आखेट

करते हुए एवं कुमार गुप्त का घोड़े पर सवार तथा स्वामी कार्तिकेय की छवि वाले इन स्वर्ण सिक्कों पर अंकित आकृतियाँ बहुत ही सजीव एवं कलात्मक हैं।

गुप्तकालीन शिल्प न केवल गुप्तकाल अपितु भारतीय कला परम्परा में भी स्वर्णकाल के नाम से जाना जाता है, जो अपनी कलात्मक सम्पदा तथा वैभव से समूचे संसार में भारतीय मूल्यों तथा शिल्प की महत्ता स्थापित करने में सक्षम रहा है।

अभ्यास प्रश्न

लघुउत्तरात्मक प्रश्न

1. गुप्तकालीन कला के प्रमुख केन्द्र कौन–कौन से हैं ?
2. कुषाणकालीन तथा गुप्तकालीन बुद्ध मूर्तियों में क्या अंतर है ?
3. उदयगिरी की गुफा के प्रमुख गुप्तकालीन शिल्प किस विषय से सम्बन्धित हैं ?
4. सारनाथ से प्राप्त गुप्तकालीन बुद्धमूर्ति की क्या विशेषता है ?
5. गुप्तकाल में किस–किस धर्म से सम्बन्धित मूर्तियों का निर्माण हुआ ?
5. गुप्तकालीन सिक्कों का वर्णन कीजिए।

वर्णनात्मक प्रश्न

1. गुप्तकाल मूर्तिकला का स्वर्णकाल क्यों कहा जाता है ?
2. मथुरा एवं सारनाथ के गुप्तकालीन मूर्तिशिल्प पर निबन्ध लिखिए।
3. हिन्दू धर्म से सम्बन्धित प्रमुख गुप्तकालीन मूर्तिशिल्प की सप्रसंग व्याख्या कीजिए।